य २॥)

# देवी

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

प्रथमावृत्ति ] [ मूल्य २॥)

प्रकाशक
पं० गंगाधर मिश्र, शास्त्री, साहित्यरत्न
बाबू बलदेव प्रसाद मेहरोत्रा, साहित्यालङ्कार
संस्थापक
श्रीराष्ट्रभाषा विद्यालय, काशी।

१९४८



मुद्रक
ह० मा० सप्रे,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, क

# भूमिका

'देवी' संग्रह प्रस्तुत है, आशा है पाठक पढ़कर प्रसन्न होंगे। हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिए इसकी भाषा क्या काम करती है पढ़ने पर समझ में आ जाता है। लिखते जो श्रम किया गया है उसका पारितोषिक उपेक्षित भाषा-साहित्य के लोग नहीं वितरित कर सके। अब जब देशी भाषा-साहित्य की माँग बढ़ी है, आशा है अधिकारिवर्ग स्कूल में प्रवेश देने का प्रयत्न करेंगे।

काशी<br>१२–८–४८ }

निराला

# विषय-सूची

# देवी

## ( १ )

बारह साल तक मकड़े की तरह शब्दों का जाल बुनता हुआ मैं मक्खियाँ मारता रहा। मुझे यह ख्याल था कि मैं साहित्य की रक्षा के लिये चक्रव्यूह तैयार कर रहा हूँ, इससे उसका निवेश भी सुन्दर होगा और उसकी शक्ति का संचालन भी ठीक ठीक। पर लोगों को अपने फँस जाने का डर होता था, इसलिए इसका फल उल्टा हुआ। जब मैं उन्हें साहित्य के स्वर्ग ले चलने की बातें कहता था, तब वे अपने मरने की बातें सोचते थे; यह भ्रम था। इसीलिए मेरी क़द्र नहीं हुई। मुझे बराबर पेट के लाले रहे। पर फाकेमस्ती में भी मैं परियों के ख़्वाब देखता रहा—इस तरह अपनी तरफ से मैं जितना लोगों को ऊँचा उठाने की कोशिश करता गया, लोग उतना मुझे उतारने पर तुले रहे, और चूँकि मैं साहित्य को नरक से स्वर्ग बना रहा था, इसीलिए मेरी दुनिया भी मुझसे दूर हो गई; अब मौत से जैसे दूसरी दुनियाँ में जाकर मैं उसे लाश की तरह देखता होऊँ। "दूबर होत नहीं कबहूँ पकवान के बिप्र

मसान के कूकर" की सार्थकता मैंने दूसरे मित्रों में देखी, जिनकी निगाह दूसरों की दुनिया की लाश पर थी। वे पहले फटीचर थे, पर अब अमीर हो गए हैं, दोमंजिला मकान खड़ा कर लिया है; मोटर पर सैर करते हैं। मुझे देखते हैं जैसे मेरा उनका नौकर-मालिक का रिश्ता हो। नकी स्वरों में कहते हैं—'हाँ, अच्छा आदमी है, जरा सनकी है।' फिर बड़े गहरे पैठकर मित्र के साथ हँसते हैं। वे उतनी दूर बढ़ गए हैं, मैं जिस रास्ते पर था, उसी पर खड़ा हूँ। जिसके लिए मेरी इतनी बदनामी हुई, दुनिया से मेरा नाम उठ जाने को हुआ, जो कुछ था, चला गया, उस कबिता को जीते जी मुझे भी छोड़ देना चाहिए जिसे लोग ख़ुराफ़ात समझते हैं, उसे न लिखना ही तो लोगों की समझ की सच्ची समझ होगी? रतिशास्त्र, वनिता-विनोद, काम कल्याण में मश्क़ करते कौन देर लगती है? चार किताबों की रूह छानकर एक किताब लिख दूँगा। 'सीता', 'सावित्री', 'दमयन्ती' आदि की पावन कथाएँ आँखें मूँदकर लिख सकता हूँ। तब बीबी के हाथ 'सीता' और 'सावित्री' आदि देकर बगल में 'चौरासी आसन' दबानेवाले दिल से नाराज न होंगे। उनकी इस भारतीय संस्कृति को बिगाड़ने की कोशिश करके ही बिगड़ा हूँ। अब जरूर सँभलूँगा। राम, श्याम जो-जो थे पुजने-पुजाने वाले, सब बड़े आदमी थे। बगैर बड़प्पन के तारीफ़ कैसी? बिना राजा हुए राजर्षि होने की गुञ्जायश नहीं, न ब्राह्मण हुए बगैर ब्रह्मर्षि होने की है। वैश्यर्षि या शूद्रर्षि कोई था, इतिहास नहीं; शास्त्रों में भी प्रमाण नहीं; अर्थात् नहीं हो सकता। बात यह कि बड़प्पन चाहिए। बड़ा राज्य, बड़ा ऐश्वर्य, बड़े पोथे, तोप-तलवार, गोले-बारूद, बंदूक-किर्च, रेल-तार, जंगीह जहाज-टारपेडो,

माइन-सबमेरीन-गैस, पल्टन-पुलीस, अट्टालिका-उपवन आदि-आदि सब बड़े-बड़े—इतने कि जहाँ तक आँख नहीं फैलती, इसलिए कि छोटे समझें, वे कितने छोटे हैं। चंद्र, सूर्य, वरुण, कुबेर, यम, जयंत, इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, महेश तक बाक़ायदा बाहिसाब ईश्वर के यहाँ भी छोटे से बड़े तक मेल मिला हुआ है।

होटल के बराम्दे में एक आराम-कुर्सी पर पैर फैलाकर लेटा हुआ इस तरह के विचारों से मैं अपनी क़िस्मत ठोंक रहा था। चूँकि यह तैयारी के बाद का भाषण न था, इसलिए इसके भाव में बेभाव की बहुत पड़ी होंगी, आप लोग सँभाल लीजिएगा। बड़े होने के खयाल से ही मेरी नसें तन गईं और नाम-मात्र के अद्भुत प्रभाव से मैं उठकर रीढ़ सीधी कर बैठ गया। सड़क की तरफ बड़े गर्व से देखा, जैसे कुछ कसर रहने पर भी बहुत कुछ बड़ा आदमी बन गया होऊँ। मेरी नजर एक स्त्री पर पड़ी।

वह रास्ते के किनारे पर बैठी हुई थी, एक फटी धोती पहने हुए। बाल काटे हुए। तअज्जुब की निगाह से आने-जानेवालों को देख रही थी। तमाम चेहरे पर स्याही फिरी हुई। भीतर से एक बड़ी तेज भावना निकल रही थी, जिसमें साफ लिखा था—"यह क्या है?" उम्र पचीस साल से कम। दोनों स्तन खुले हुए। प्रकृति की मारों से लड़ती हुई, मुरझाकर, मुमकिन किसी को पचीस साल से कुछ ज्यादा जँचे। पास एक लड़का डेढ़ साल का खेलता हुआ। संसार की स्त्रियों की एक भी भावना नहीं। उसे देखते ही मेरे बड़प्पन वाले भाव उसी में समा गए, और फिर वही छुटपन सवार हो गया। मैं उसी की चिंता करने लगा—"यह कौन है, हिन्दू या मुसलमान? इसके एक बच्चा भी है। पर इन दोनों का भविष्य

क्या होगा ? बच्चे की शिक्षा, परवरिश क्या इसी तरह रास्ते पर होगी ? यह क्या सोचती होगी ईश्वर, संसार, धर्म और मनुष्यता के संबंध में ?"

इसी समय होटल के नौकर को मैंने बुलाया। उसका नाम है संगमलाल। मैं उसे संग-मलाल कहकर पुकारता था। आने पर मैंने उससे उस स्त्री की बाबत पूछा। संगमलाल मुझे देखकर मुस्किराया, बोला—"वह तो पागल है, और गूँगी भी है बाबू। आप लोगों की थालियों से बची रोटियाँ दे दी जाती हैं।" कहकर हँसता हुआ बात को अनावश्यक जानकर अपने काम पर चला गया।

मेरी बड़प्पनवाली भावना को इस स्त्री के भाव ने पूरा-पूरा परास्त कर दिया। मैं बड़ा हो भी जाऊँ, मगर इस स्त्री के लिए कोई उम्मीद नहीं। इसकी क़िस्मत पलट नहीं सकती। ज्योतिष का सुख-दुःख-चक्र इसके जीवन में अचल हो गया है। सहते-सहते अब दुःख का अस्तित्व इसके पास न होगा। पेड़ की छाँह या किसी खाली बरामदे में दुपहर की लू में, ऐसे ही एकटक कभी-कभी आकाश को बैठी हुई देख लेती होगी। मुमकिन, इसके बच्चे की हँसी उस समय इसे ठंडक पहुँचाती हो। आज तक कितने वर्षा-शीत-ग्रीष्म इसने झेले हैं, पता नहीं। लोग नेपोलियन की वीरता की प्रशंसा करते हैं। पर यह कितनी बड़ी शक्ति है, कोई नहीं सोचता। सब इसे पगली कहते हैं, पर इसके इस परिवर्त्तन के क्या वही लोग कारण नहीं ? किसे क्या देकर, किससे क्या लेकर लोग बनते-बिगड़ते हैं, ये सूक्ष्म बातें कौन समझा सकता है ? यह पगली भी क्या अपने बच्चे की तरह रास्ते पर पली है ? संभव है, पहले सिर्फ़ गूँगी रही हो, विवाह के बाद निकाल दी गई हो,

या खुद तकलीफ पाने पर निकल आई हो, और यह बचा रास्ते के ख्वाहिशमंद का सुबूत हो।

मैं देख रहा था, ऊपर के धुएँ के नीचे दीपक की शिखा की तरह पगली के भीतर की परी इस संसार को छोड़कर कहीं उड़ जाने की उड़ान भर रही थी। वह सांवली थी, दुनिया की आँखों को लुभानेवाला उसमें कुछ न था, दूसरे लोग उसकी रुखाई की ओर रुख न कर सकते थे, पर मेरी आँखों को उसमें वह रूप देख पड़ा, जिसे मैं कल्पना में लाकर साहित्य में लिखता हूँ। केवल वह रूप नहीं, भाव भी। इस मौन-महिमा, आकार-इंगितों की बड़े-बड़े कवियों ने कल्पना न की होगी। भाव-भाषण मैंने पढ़ा था, दर्शन-शास्त्रों में मानसिक सूक्ष्मता के विश्लेषण देखे थे, रंगमंच पर रवीन्द्रनाथ का किया अभिनय भी देखा था, खुद भी गद्य-पद्य में थोड़ा-बहुत लिखा था, चिड़ियों तथा जानवरों की बोली बोलकर उन्हें बुलानेवालों की भी करामात देखी थी; पर वह सब कृत्रिम था, यहाँ सब प्राकृत। यहाँ मा बेटे के मनोभाव कितनी सूक्ष्म व्यंजना से संचारित होते थे, क्या लिखूँ। डेढ़ दो साल के कमजोर बच्चे को मा मूक भाषा सिखा रही थी—आप जानते हैं, वह गूँगी थी। बच्चा मा को कुछ कहकर न पुकारता था, केवल एक नजर देखता था, जिसके भाव में वह मा को क्या कहता था, आप समझिए; उसकी मा समझती थी; तो क्या वह पागल और गूँगी थी?

( २ )

पगली का ध्यान ही मेरा ज्ञान हो गया। उसे देखकर मुझे बार-बार महाशक्ति की याद आने लगी। महाशक्ति का प्रत्यक्ष

रूप, संसार का इससे बढ़कर ज्ञान देनेवाला और कौन-सा होगा ? राम, श्याम और संसार के बड़े-बड़े लोगों का स्वप्न सब इस प्रभात की किरणों में दूर हो गया। बड़ी-बड़ी सभ्यता, बड़े-बड़े शिक्षालय चूर्ण हो गए। मस्तिष्क को घेरकर केवल यही महाशक्ति अपनी महत्ता में स्थित हो गई। उसके बच्चे में भारत का सच्चा रूप देखा, और उसमें-क्या कहूँ, क्या देखा।

देश में शुल्क लेकर शिक्षा देनेवाले बड़े-बड़े विश्वविद्यालय हैं। पर इस बच्चे को क्या होगा ? इसके भी मा है। वह देश की सहानुभूति का कितना अंश पाती है ?—हमारी थाली की बची रोटियाँ, जो कल तक कुत्तों को दी जाती थीं। यही, यही हमारी सच्ची दशा का चित्र है। यह मा अपने बच्चे को लेकर राह पर बैठी हुई धर्म, विज्ञान, राजनीति, समाज, जिस विषय को भी मनुष्य होकर मनुष्यों ने आज तक अपनाया है, उसी की, भिन्न-रुचिवाले पथिक को शिक्षा दे रही है—पर कुछ कहकर नहीं। कितने आदमी समझते हैं ? यही न समझना संसार है—बार-बार वह यही कहती है। उसकी आत्मा से यही ध्वनि निकलती है—संसार ने उसे जगह नहीं दी—उसे नहीं समझा; पर संसारियों की की तरह वह भी है—उसके भी बच्चा है।

एक रोज़ मैंने देखा, नेता का जुलूस उसी रास्ते से जा रहा था। हजारों आदमी इकट्ठा थे। जय-जयकार से आकाश गूँज रहा था। मैं उसी बराम्दे पर खड़ा स्वागत देख रहा था। पगली भी उठकर खड़ी हो गई थी। बड़े आश्चर्य से लोगों को देख रही थी। रास्ते पर इतनी बड़ी भीड़ उसने नहीं देखी। मुँह फैलाकर, भौएँ सिकोड़कर आँखों की पूरी ताकत से देख रही थी—समझना

चाहती थी, वह क्या था। क्या समझी, आप समझते हैं? भीड़ में उसका बच्चा कुचल गया और रो उठा। पगली बच्चे की गर्द झाड़कर चुमकारने लगी, और फिर कैसी ज्वालामयी दृष्टि से जनता को देखा! मैं यही समझता हूँ। नेता दस हजार की थैली लेकर ग़रीबों के उपकार के लिए चले गए—जरूरी-जरूरी कामों में ख़र्च करेंगे।

एक दिन पगली के पास एक रामायणी समाज में कथा हो रही थी। मैंने देखा, बहुत से भक्त एकत्र थे। एतवार का दिन। दो बजे से साहित्य-सम्राट् गो० तुलसीदासजी की रामायण का पाठ शुरू हुआ, पाँच बजे समाप्त। उसमें हिन्दुओं के मँजे स्वभाव को साहित्य-सम्राट् गो० तुलसीदासजी ने और माँज दिया है, आप लोग जानते हैं। पाठ सुनकर, मँजकर भक्त-मण्डली चली। दुबली-पतली ऐश्वर्य-श्री से रहित पगली बच्चे के साथ बैठी हुई मिली। एक ने कहा, इसी संसार में स्वर्ग और नरक देख लो। दूसरे ने कहा, कर्म के दण्ड हैं। तीसरा बोला, सकल पदारथ हैं जगमाहीं; कर्म-हीन नर पावत नाहीं। सब लोग पगली को देखते शास्त्रार्थ करते चले गए।

संगमलाल ने मुझसे कहा, बाबू, यह मुसलमान है। मैंने उससे पूछा, तुम्हें कैसे मालूम हुआ। उसने बतलाया, लोग ऐसा ही कहते हैं कि पहले यह हिंदू थी, फिर मुसलमान हो गई, इसका बच्चा मुसलमान से पैदा हुआ है; पहले यह पागल नहीं थी, न गूँगी; बाद को हो गई। मैंने सुन लिया। संगम ने किस ख़याल से कहा, मैं सोच रहा था। उन दिनों कई आदमियों से बातें करते हुए मैंने पगली का जिक्र किया; साहित्य, राजनीति आदि कई

विषयों के आदर्श पर बहस थी; कुछ हँसकर चले गए, कुछ गंभीर होकर और कुछ कुछ पैसे उसे देने के लिये देकर।

मैंने हिंदू, मुसलमान, बड़े-बड़े पदाधिकारी, राजा, रईस, सबको उस रास्ते से जाते समय पगली को देखते हुए देखा। पर किसी ने दिल से भी उसकी तरफ देखा, ऐसा नहीं देखा। जिन्हें अपने को देखने-दिखाने की आदत पड़ गई है, उनकी दृष्टि में दूसरे की सिर्फ़ तस्वीर आती है, भाव नहीं; यह दर्शन मुझे मालूम था। जिन्दा को मुर्दा और मुर्दा को जिन्दा समझना भ्रम भी है और ज्ञान भी; बाड़ियों में आदमी का पुतला देखकर हिरन और स्यार जिन्दा आदमी समझते हैं; उसी तरह ज्ञान होने पर गिलहरियाँ बदन पर चढ़ती हैं—आदमी उन्हें पत्थर जान पड़ता है। ऊपरवाले आदमी पगली को देखते हुए किस कोटि में जाते थे भगवान जानें!

एक दिन शहर में पल्टन का प्रदर्शन हो रहा था। पगली फ़ुटपाथ पर बैठी थी। मैं उसी बरांदे पर नंगे-बदन खड़ा सिपाहियों को देख रहा था। मेरी तरफ देख-देखकर कितने सिपाही मुस्किराए। मेरे बालों के बाद मुँह की तरफ देखकर लोग मिस-फ़ैशन कहते हैं। थिएटर, सिनेमा में यह सम्बोधन दशाधिक बार एक ही रोज सुनने को मिला है। रास्ते पर भी छेड़खानी होती है। मैं कुछ बोलता नहीं। क्योंकि सबसे अच्छा जबाब है बालों को कटा देना। पर ऐसा करूँ तो मुझे दूसरे की समझ की खूराक न मिले। मैं सोचता हूँ, आवाज़ा कसनेवालों पर एक हाथ रक्खूँ, तो छठी का दूध याद आ जाय, यह वे नहीं देखते। मैं

समझ गया, सिपाही भी मिस-फ़ैशन से खुश होकर हँस रहे हैं। ठ्ठल तो है। मेरे फ्रौक-कट, पाँच फुट साढ़े ग्यारह इंच लम्बे, जरूरत से ज्यादा चौड़े और चढ़े मोढ़ों के कसरती बदन को देखकर किसी को आतंक नहीं हुआ। इसका एक निश्चय कर मैं पगली की तरफ देखने लगा। पगली बैठी थी। सिपाही मिलिटरी ढंग से लेफ्ट-राइट लेफ्ट राइट दुरुस्त, दर्प से जितना ही पृथ्वी को दहलाते हुए चल रहे थे, पगली उतना ही उन्हें देख-देखकर हँस रही थी। गोरे गम्भीर हो जाते थे। मैंने सोचा मेरा बदला इसने चुका लिया। पगली ने खुशी में अपने बच्चे को भी शरीक करने की कोशिश की—मा अच्छी चीज़, अच्छी तालीम बच्चे को देती है। पगली पास बैठे बच्चे की ओर देखकर चुटकी बजाकर सिपाहियों की तरफ उँगली से हवा को कोंच-कोंचकर दिखा रही थी, और हँसती हुई जैसे कह रही थी—"खुश तो हो? कैसा अच्छा दृश्य है!"

कई महीने हो चुके। आदान-प्रदान से पगली की मेरी गहरी जान-पहचान हो गई। पगली मुझे अपना शरीर-रक्षक समझने लगी। उसे लड़के बहुत तंग करते थे। मैं वहाँ होता था, तो विचित्र ढंग से मुँह बनाकर मुझसे सहानुभूति की कामना करती हुई, अपार करुणा से देखती हुई लड़कों की तरफ इशारा करती थी। मुझे देखकर लड़के भग जाते थे। इस तरह मेरी उसकी घनिष्ठता बढ़ गई। वह मुझे अपना परम हितकारी मानने लगी। मैं खुद भी पैसे देता था, पगली यह समझती थी। एक दिन मुझे मालूम हुआ, उसके पैसे बदमाश रात को छीन ले जाते हैं। यह मनुष्यों का विश्व-व्यापी धर्म सोचकर मैं चुप हो गया। चुरा

जाने पर पगली भूल जाती थी, छिन जाने पर, कम प्रकाश में किसी को न पहचान कर रो लेती थी।

एक दिन मेरे एक मित्र ने पगली से मजाक किया। किसी ने उन्हें बतलाया था कि इसके पास बड़ा माल है, मिट्टी में गाड़-गाड़कर इसने बड़े पैसे इकट्ठे किए हैं। मेरे मित्र पगली के पास गए, और मुस्किराते हुए ब्याजवाली बात समझाकर दो रुपए उधार माँगे। उनकी बात सुनकर पगली जी खोलकर हँसी, फिर कमर से तीन पैसे निकाल कर निस्संकोच देने लगी।

( ३ )

गरमी की तेज लू और बरसात की तीव्र धार पगली और उसके बच्चे के ऊपर से पार हो गई। लोग—जो समर्थ कहलाते हैं—केवल देखते रहे। पास एक खाली मकान के बराम्दे में, पानी बरसने पर, वह आश्रय लेती थी। जब तक वह उठकर जाय-जाय, तब तक उसका बिस्तरा भीग जाता था, वह भी नहा जाती थी। फिर उसी गली में पड़ी रहती। उसका स्वास्थ्य धीरे-धीरे टूटने लगा। उसे तपस्या करने की आदत थी, काम करने की नहीं। उसके हाथ-पैर बैठे-बैठे जकड़ गए थे। पानी पीने के लिए रास्ते के उस पार जाना पड़ता था। पानी की कल उसी तरफ थी। इस पार से उस पार तक इतना रास्ता पार करते उसे आधे घंटे से ज्यादा लग जाता था। एक फ़र्लांग पर कोई इक्का या ताँगा आता होता, तो पगली खड़ी हुई उसके निकल जाने की प्रतीक्षा करती रहती। उसकी मुद्राएँ देखकर कोई मनुष्य समझ जाता कि उस एक्के या ताँगे से दब जाने का उसे डर हो रहा है। साधारण आदमी तब तक चार बार रास्ता पार करता। एक एक्का निकल जाता,

फिर दूसरा आता हुआ देख पड़ता। पगली अपनी जगह जमी हुई चलने के लिए दो-एक दफे झूमकर रह जाती। उसकी मुख-मुद्रा ऐसी विरक्ति सूचित करती थी—वह इतनी खुली भाषा थी कि कोई भी उसे समझ लेता कि वह कहती है, "यह सड़क क्या मोटर-ताँगे-एक्केवालों के लिए ही है? इन्हें देखकर मैं खड़ी होऊँ, मुझे देखकर ये क्यों न खड़े हों?" बड़ी देर बाद पगली को रास्ता पार करने का मौका मिलता। तब तक उसकी प्यास कितनी बढ़ती थी, सोचिए।

एक दिन हम लोग ब्लैक क्वीन खेल रहे थे। शाम को पानी बरस चुका था। पगली उसी खाली मकान के बरांदे पर थी। हम लोगों ने खाना खाकर खेल शुरू किया था। होटल के गेट की बिजली जल रही थी। फुटपाथ पर मेज और कुर्सियाँ डाल दी गई थीं। दस बज चुके थे। बच्चे को सुलाकर पगली किसी जरूरत से बाहर गई थी। उसका बच्चा सोता हुआ करवट बदलकर दो हाथ ऊँचे बरांदे से नीचे फुटपाथ पर आ गिरा, और जोर से चीख उठा। मेरे साथ के खिलाड़ी आलोचना करने लगे, "जान पड़ता है, पगली कहीं गई है, है नहीं" होटल के एक अमीर-दिल बोर्डर ने संगम से कहा, "देख रे, पगली कहीं हो, तो बुला तो दे।"

इनकी बातचीत में वह भाव था, जिसके चाबुक ने मुझे उठने को विवश कर दिया। मैंने उस बच्चे को दौड़कर उठा लिया। मेरे एक मित्र ने कहा—'अरे, यह गंदा रहता है।' मैं गोद में लेकर उसे हिलाने लगा। उतनी चोट खाया हुआ बच्चा चुप हो गया, क्योंकि इतना आराम उसे कभी नहीं मिला। उसकी मा इस तरह बच्चे को सुख के झूले में झुलाना नहीं जानती। जानती भी हो,

तो उसमें शक्ति नहीं। बच्चे को आँखों के प्यार से गोद का सुख ज्यादा प्यारा है। इसे इस तरह की मारें बहुत मिली होंगी, पर इस तरह का सुख एक बार भी न मिला होगा। इसलिए वह चोट की पीड़ा भूल गया, और सुख की गोद में पलकें मूँदकर बात-की-बात में सो गया। मैंने उसे फिर उसकी जगह पर सावधानी से सुला दिया।

अब धीरे धीरे जाड़ा पड़ने लगा था। मेरे मित्र श्रीयुत नैथाणी ने कहा, "एक रोज पगली का बच्चा गिर गया था। आपने गोद में उठा लिया था। दीवान साहब तब जग रहे थे, मुझे भी देखने को जगा दिया।" मैं चुप रहा। मन में कहा, "यह कोई बड़ी बात तो थी नहीं, बुद्ध एक बकरे के लिए जान दे रहे थे। जब हममें बड़ी-बड़ी, बातें पैदा होंगी, तब हम इन बातों की छुटाई समझेंगे। आज तो तरीका उल्टा है। जिसकी पूजा होनी चाहिए, वह नहीं पुजता; जो कुछ पूजता है वही अधिक पुजने लगता है!"

जाड़ा जोरों का पड़ने लगा। एक रोज रात बारह बजे के करीब रास्ते से पिल्ले की-सी कूँ-कूँ सुन पड़ी। मैं एक कहानी समाप्त करके सोने का उपक्रम कर रहा था। होटल में और सब लोग सो चुके थे। मैं नीचे रास्ते के सामनेवाले कमरे में रहता था। होटल का दरवाजा बंद हो चुका था। पर मैं अपना दरवाजा खोलकर बाहर गया। देखता हूँ, एक पाया हुआ मामूली काला कंबल ओढ़े बच्चे को लिए पगली फुटपाथ पर पड़ी है। जब उसे दुनिया का अपने अस्तित्व का ज्ञान होता है, तब हाड़ तक छिद जानेवाले जाड़े से काँप कर वह ऐसे करुण स्वर से रोती है जमीन पर एक फटी-पुरानी ओस से भीगी कथरी बिछी, ऊपर पतला कंबल।

ईश्वर ने मुझे केवल देखने के लिए पैदा किया है। मेरे पास जो ओढ़ना है वह मेरे लिए भी ऐसा नहीं कि खुली जगह सो सकूँ। पुराने कपड़े होटल के नौकर माँग लेते हैं—मथुरा मेरा कुर्त्ता जो उसके अचकन की तरह होता है, बाँहें काट कर रात को पहन कर सोता है, संगम मेरी धोती से अपनी धोती साँट कर ओढ़ता है, महाराज ने राखी बाँधकर कंबल माँगा था, अभी तक मैं नहीं दे सका। मैं सोचने लगा, यह कंबल पगली को किसने दिया होगा? याद आया, सामने के धनी बंगाली-घराने की महिलाएँ बड़ी दयालु हैं, कभी-कभी पगली को धोती और उसके लड़के को अंगरेजी फ्राक पहना देती थीं—उन्हीं ने दिया होगा। ऐसे ही विचार में मेरी आँख लग गई।

होटल के मालिक से नाराज होकर, गुट्ट बाँधकर एक रोज बारह-तेरह बोर्डर निकल गए। सब विद्यार्थी थे। मुझे मानते थे। कुछ कैनिंग कॉलेज के थे, कुछ क्रिश्चियन कॉलेज के। मुझसे उनके प्रमुख दो लॉ-क्लास के विद्यार्थियों ने आकर कहा—"जनाब, ऐसा तो हो नहीं सकता कि हम उस महीने का खर्च यहाँ देकर, वहाँ पेशगी फिर एक महीने का खर्च दें—धीरे-धीरे प्रोप्राइटर को रुपए दे देंगे, हमारे पास घर से खर्च तो एक ही महीने का आता है, अब वहाँ जाकर लिखेंगे, खर्च आएगा, तब देंगे। होटल तोड़ने के लिए कई बार हम लोगों से मैनेजर कह चुके हैं। बीच में तोड़ दिया, तो हम कहीं के न हुए। इम्तहान सिर पर है। हमने पहले से अपना इंतजाम कर लिया।" मुझे खयाल आया, अब पगली की रोटियाँ भी गईं। वह अब चल भी नहीं सकती कि दूसरी जगह से माँग लाए। विद्यार्थी मन में यह सोचते हुए गए ( अब मालूम

हो रहा है ) कि जैसा सड़ा खाना खिलाया है, दामों के लिए वैसे ही सड़क पर चक्कर खिलवाएँगे ।

उनके जाने से होटल सूना हो गया । निश्चय हुआ कि इस महीने बाद बंद कर दिया जायगा । संगम मेरे पास उस जाड़े में मेरी दी हुई एक बनियानी पहने हुए मुट्ठियाँ दोनों बगलों में दबाए संसार का एक्स ( X ) बना हुआ सुबह-सुबह आकर बोला—"बाबू जी, मेरी दो महीने की तनखाह बाकी है, आप दस रुपया काटकर मैनेजर साहब को बिल चुकाइएगा।" मैंने उसे धैर्य दिया। दस रुपए की कल्पना से गलकर हँसता हुआ बड़े मित्र-भाव से संगम मुझे देखने लगा। मैंने देखा, हँसते वक्त उसका मुँह नवयुवतियों की आँखों को मात कर कानों तक फैल गया है।

दो-तीन दिन बाद एक मकान किराए पर लेकर मैनेजर को अपनी बेयरर चेक दस्तखत करके देने से पहले मैंने कहा—"आपको चेक दिलवाने के लिए गंगा-पुस्तकमाला जाता हूँ, चेक में दस रुपए कम होंगे संगम की दो महीने की तनख्वाह बाक़ी है? उसने कहा, मेरे रुपए रोककर होटल को रुपए दीजिएगा।" मैनेजर यानी प्रोप्राइटर साहब ने संगम को बुलाया। कहा—"क्यों रे, तू हमें बेइमान समझता है?" संगम सिटपिटा गया, मारे डर के उसकी जबान बंद हो गई। मैनेजर साहब उसे घूरकर मेरी ओर देखकर बोले—"आप मुझे ही रुपए दीजिएगा, नौकरों की इस तरह आदत बिगड़ जायगी।" मैं सत्तर रुपए का चेक मैनेजर साहब को देकर किराए के दूसरे मकान में चला आया। मेरे साथ मेरे मित्र कुँअर साहब भी आए।

एक रोज पगली का हाल सुनकर उनके मामा साहब एक

नफ़ीस बारीक़ कंबल पगली को देने के लिए दे गए। मैंने कुँअर साहब से कहा, "रज़ाई ठीक थी, इससे क़ीमत में भी ज्यादा नहीं होगी, और पगली का जाड़ा भी छूट जायगा।" कुँअर साहब अपनी रज़ाई देने के लिए देकर बड़े दिन की छुट्टियों में घर गए। मैं रज़ाई लेकर पगली को उढ़ा आया। दो-तीन दिन बाद मेरे मित्र श्रीयुत नैथाणी मिले। कहा—"पगली अस्पताल भेज दी गई। डाक्टर का कहना है, उसे डबल निमोनिया हो गया है। बचेगी नहीं। उसका बच्चा श्रीदयानंद अनाथालय भेज दिया गया है। पगली बच्चे को छोड़ती न थी। पगली को ले जानेवाले एक्के की बगल से निकलती हुई मोटर के धक्के से एक स्वयंसेवक के पैर में सख्त चोट आ गई है, इसी ने सब से पहले गंदगी से न डर कर पगली को उठाया था!"

एक रोज सुबह उसी तरह बग़ल में मुट्ठी दबाए हुए संगम ने आकर कहा, "बाबू, आपका चेक भुनाकर मैनेजर साहब भग गए हैं।"

"नहीं, संगम," मैंने समझाया, "मैनेजर साहब बड़े अच्छे आदमी हैं। घर रुपए लेने गए हैं। उन्हें कई सौ रुपए देने हैं—लकड़ी, घी, आटा, दूध और किराए के। लौटकर रुपए दे देंगे।" संगम वैसा ही फिर हँसा।

# भक्त और भगवान

( १ )

भक्त साधारण पिता का पुत्र था। सारा सांसारिक ताप पिता के पेड़ पर था, उस पर छाँह। इसी तरह दिन पार हो रहे थे। उसी छाँह के छिद्रों से रश्मियों के रंग, हवा से फूलों की रेणु-मिश्रित गंध, जगह-जगह ज्योतिर्मय जल में नहाई भिन्न-भिन्न रूपों की प्रकृति को देखता रहता था। स्वभावतः जगत् के करण-कारण भगवान् पर उसकी भावना बँध गई।

पिता राजा के यहाँ साधारण नौकर थे। उसे इसका ज्ञान रहने पर भी न था। लिखने के अनुसार उसकी उम्र का उल्लेख हो जाता है। इस समय एक घटना हुई। गाँव के किनारे, कुएँ पर, एक युवती पानी भर रही थी। पकरिए के पेड़ के नीचे एक बाबा तन्मय गा रहे थे—"कौन पुरुष की नार झमाझम पानी भरे ?" युवती घड़ा खींचती दाहिनी ओर के दाँतों से घूँघट का छोर पकड़े, बाएँ झुकी, आँखों में मुस्किरा रही थी। तरुण भक्त की ओर मुँह था, बाबाजी की ओर दाहने अंगों से पर्दा।

भक्त का विद्यार्थी जीवन था। उसने पढ़ा। विस्मित हो गया। देवी को मन में प्रणाम कर आगे बढ़ा। गाँव की गली में साधारण किसानों की भजन-मंडली जमी थी। खँझड़ी पर लोग समस्वर से गा रहे थे—

"कहत कोउ परदेसी की बात—
कहत कोउ परदेसी की बात!
वइ तरु-लता, वई द्रुम-खंजन,
वइ करील, वइ पात;
जब ते बिछुरे स्याम साँवरे,
ना कोउ आवत-जात!"

तरुण युवक खड़ा हो गया। अच्छा लगा। एक पेड़ की जड़ पर बैठकर एकचित्त सुनता रहा। कितने भाव प्राणों में जगकर उथल-पुथल मचाने लगे—"यह परदेशी की बात कौन कहता है? क्या कहता है? तरु-लता-द्रुम-खंजन-करील आदि वही सब अब भी हैं, पर श्याम बिछुड़ गए हैं, इसीलिए तो वह सब सूना हो रहा है? वहाँ कोई नहीं आता जाता!—यह परदेशी की कैसी बात है?" कितने तत्त्व, कितने विचार बह गए। वह सुनता रहा—अज्ञात भी कितना कह गए। फिर सब भूल गया। एक होश रहा—यह परदेशी कौन है—क्या कहा—यह साँवरे श्याम कैसे बिछुड़े?—फिर भी परदेशी की बात कहने में इनका अस्तित्व है!

चुपचाप उठकर वह चला गया। गाँव से बाहर एकांत में, एक रास्ते के किनारे, चढ़ी मालती के बड़े पीपल के नीचे बँधे पक्के चबूतरे पर, महावीरजी की सुन्दर मूर्ति स्थापित थी, वहीं

जाकर बैठ गया। विशद विचार का नशा था ही। लड़ी आप ही फैल चली। तुलसीदास की याद आई। महावीरजी, तुलसीदासजी और श्रीरामायण से हिन्दी-भाषी पठित हिन्दू-मात्र का जीवन-संबंध है। मन सोचने लगा। तुलसीदास की सिद्धि के कारण महावीर जी हैं। सामने सिंदूर की सजी सुंदर मूर्ति पर सूर्य की किरणें पड़ रही थीं। देखकर भक्ति-भाव से प्रणाम किया। अर्थ कुछ नहीं समझा। पर उस पत्थर की मूर्त्ति पर प्राण मुग्ध हो गए। यह एक संस्कार था—एक मूर्ख संस्कार, जिसे ब्रह्म-भाव के लोग आज कुसंस्कार कहते हैं, वृहत्तर भारत के निर्माण के लिए प्रयत्न पर हैं।

'खसी माल मूरति मुस्कानी' वह नहीं समझा; पर खसी मालवाली–बिना माला की मूर्ति मुस्किराई। उसने केवल देखा—सामने एक क़लमी पुराने आम के पेड़ पर नई जंगली बेले की लता पूरी फूली हवा में हिल रही है। तरुण भक्त की इच्छा हुई, माला गूँथकर महावीर को पहनाए। सामने केले लगे थे। एक पत्ता बीच से तोड़कर पैनी लकड़ी से काट लिया, और पेड़ पर चढ़कर, उसीके बनाए दोने में फूल तोड़-तोड़कर रखने लगा। फिर गुर्च–जैसी एक लता की पतली लड़ी तोड़कर, उसी चबूतरे पर बैठकर माला गूँथने लगा। पूरी होने पर महावीर जी को पहना कर देखा। कोई हँस दिया—वह नहीं समझा। प्रणाम कर चला गया।

वह विवाहित था। घर आया। सिंदूर का सुहाग धारण किए नवीन पत्नी खड़ी थी, आँखों में राज्य-श्री उतरकर अभिनन्दन कर रही थी—वह मुस्किराई; पर वह फिर भी नहीं समझा।

( २ )

भक्त की ऋतुएँ बहुत धीरे-धीरे वेश बदलती हुई चलती हैं। पर इतनी सुन्दर हैं, इतनी कोमल और इतनी मनोरम कि वहाँ प्रखरता का कोई भी निर्झर स्वर नहीं, जो शैलोच्च प्रकृति से उतरता हुआ हरहराता हो, वहाँ केवल मर्मरोज्ज्वल तरंगभंग हैं।

भक्त का नाम निरंजन था। सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी वह निरंजन था। केवल भक्ति थी। भक्ति बुद्धि नहीं, पर पूजा चाहती है। पूजा के लिये सामग्री एकत्र करने की विधि वह नहीं बताती, विधि आप विधान देते हैं।

भक्त ने देखा, राजा का सरोवर सरोरुहों से पूर्ण है। नील जल-राशि पर हरे पत्र, उनके बीच वृन्त उठे, उन पर डोलते हुए कमल, उन पर काँपती हुई किरणें। भक्त ने देखा—ये श्वेत कमल श्वेत होकर भी कैसी अञ्जलि बाँधे हुए हैं; इच्छा हुई, इन्हें महावीर जी पर चढ़ावे। लाँग मारकर पानी में कूद पड़ा। जल 'छल-छल' कहता, छलकता हुआ, तरंगों से वर्त्तित हो चला। वह तैरने लगा। नाल और नालों के काँटे रोकने लगे—लिपटकर, छिदकर, खरोंचते रहे; पर उसे केवल महावीरजी, पूजा और कमलों का ध्यान था—तैरता तोड़ता, तट-जल पर फेंकता रहा। फिर निकलकर उठा लिए। चबूतरे पर जाकर भक्ति-भाव से सजाने लगा। मूर्ति वीर-मूर्ति न थी। हाथ जोड़े हुए थी। दोनों बगलों में, कन्धों के बीच कानों के नीचे, पैरों से लेकर ऊपर तक मूर्ति को श्वेत-कमलों से सुवासित कर दिया। सिर के लिये एक सनाल कमल को गुड़री बनाई। पहनाने लगा, आगे भार अधिक होने के कारण अर्द्ध-विकच कमल गिरने लगा—संभालकर, दबाकर पहना दिया।

देर तक तृप्ति की दृष्टि से देखता रहा, जैसे कमल उसी के हों, इस सारी शोभा पर उसी की दृष्टि का पूरा अधिकार हो।

घर आकर बड़ी प्रसन्नता से रात के भोजन के बाद सोया। मस्तिष्क स्निग्ध था। बात-की-बात में नींद आ गई। रात पिछले पहर की थी स्वप्न देखने लगा। इसे आजकल के लोग संस्कार कहेंगे। पर इसकी पूरी व्याख्या करते नहीं पढ़ा गया। देखा, महावीर जी की वही भक्ति-मूर्त्ति सामने मुस्किराती हुई खड़ी है। कह रही है—"बन्धु, तुमने अपनी पूजा का स्वार्थ देखा, पर मेरे लिये कुछ भी विचार नहीं किया। कमल-नाल की गुड़री इतने जोर से तुमने गड़ाई कि उसके काँटे मेरे सर में छिद गए हैं, दर्द हो रहा है।" भक्त बज्रांग की वाणी सुनकर चकित था, साथ आनन्द में मत्त कि बज्रांग इतने कोमल हैं!

वह मूर्ति धीरे-धीरे अदृश्य हो चली। साथ भक्त की पत्नी अँधेरे के प्रकाश में उठती हुई सामने आई। सिर पर सिन्दूर चमक रहा था। महावीर जी अदृश्य होते हुए बदल गए—"इनके मस्तक पर क्या है।" भक्त को ताज्जुब में देखकर पत्नी बोली—"प्रिय, महावीर को मैं मस्तक पर धारण करती हूँ।" स्वप्न में भक्त ने पूछा—"मैं नहीं समझा—अर्थ क्या है?" बड़ी रहस्यमयी मुस्कान आँखों में दिखाई दी। "उठो" पत्नी ने कहा—"अर्थ सब मैं हूँ—मुझे समझो।" भक्त की आँखें खुल गईं। जगकर देखा, पत्नी घोर निद्रा में सो रही है। उसका दाहना हाथ उसके हृदय पर रखा है, जैसे उसके हृदय के यंत्र को स्वप्न के स्वरों में उसी ने बजाया हो। खिड़की से ऊषा की अन्धकार को पार करनेवाली तैरती छवि, दूरजगत की मधुर ध्वनि की तरह, अस्पष्ट भी स्पष्ट प्रतीत हो रही

थी। भक्त ने उठकर बाहर आना चाहा। धीरे से, हृदय से प्रिया का हाथ उठाकर चूमा; फिर सघन जाँघ पर सहारे से प्रलम्ब कर एक बार मुँह देखा—खुले, प्रसन्न, दिव्य भाल पर अन्धकार बालों को चीरनेवाली माँग में वैसा ही शोभन सिन्दूर दीपक-प्रकाश में जाग्रत् था। कमल-आँखें मुँदी हुईं। कपाल, भौंह, गाल, नाक, चिबुक आदि के कितने सुन्दर कमल सोहाग सिन्दूर पर चढ़े हुए हैं! देखकर चुपचाप उठकर बाहर चला गया।

( ३ )

भक्त की भावना बढ़ चली। प्राणों में प्रेम पैदा हो गया। यह बहुत दूर का आया प्रेम है, यह वह न जानता था। क्योंकि वह जाग्रत लोक में ज्यादा बँधा था। उसकी मुक्ति जाग्रत की मुक्ति थी। खाने-पीने, रहने-सहने की मामूली बातों से निवृत्त हो, इतना ही समझता था। स्वप्न के बाद तमाम दिन एक प्रसन्नता का प्रवाह बहा—पहले पहल जवानी में ब्याह होने पर जैसा होता है।

आज फिर अच्छी पूजा की इच्छा हुई। सरोवर के किनारे से, दूसरों की आँख बचाकर, ऊँची चारदीवार की बग़ल-बग़ल जाने लगा बारहदरी के पिछवाड़े, एक दूसरे सरोवर के किनारे, गुलाब-बाग़ था। दाहने आमों की श्रेणी। बीच में बड़ा रास्ता। राहियों की नजर से ओझल पड़ता था। चुपचाप, केले का एक वैसा ही आधार लिए, बाग़ में पैठा। बसरा, बलायत, फ्रांस आदि देशों के तरह तरह के घने और हल्के लाल, गुलाबी, पीले गुलाब हिल रहे थे, जैसे हाथ जोड़े आकाश की स्तुति कर रहे हों—'खे संभवं शंकरम्'—'खे संभवं शंकरम्' मौन वीणा बजा रही हो, सुगंध की झंकारें दिशाओं को आमोद-मुग्ध करती हुई।

क्षण-भर शोभा देखकर गुलाब तोड़ने लगा। ध्यान महावीर जी की ओर बह रहा था। साक्षात् भक्ति जैसे वीर की सेवा में रत हो।

लौटकर आज लाल को लाल करने चला। सिंदूर पर गुलाब की शोभा चढ़ी। सुंदर सब समय सुंदर है। सजाकर देर तक देखता रहा। यही पूजा थी।

घर आया। पत्नी ने नई साड़ी पहनी थी, गुलाबी। देखकर भक्त हँसा। रात का स्वप्न मस्तिष्क में चक्कर काटने लगा। कहा—"तुम मन की बात समझती हो"।

सहज सरलता से पत्नी ने कहा—"तुम जैसा पसंद करते हो, मैं वैसा करती हूँ।"

भक्त की इच्छा हुई, रात की बात कहे; पर किसी ने रोक दिया। सर झुकने लगा—न झुकाया। पत्नी सर झुकाए मुस्किरा रही थी। मस्तक का सिंदूर चमक रहा था। देखकर भक्त चुप हो गया।

उसकी पत्नी का नाम सरस्वती था। पति को चुप देखकर बोली—"मेरा नाम सरस्वती है, पर मैं सजकर जैसे लक्ष्मी बन गई हूँ।" यह छल भक्त को हँसाने के लिये किया था, पर भक्त ने सोचा, यह मुझे समझना है कि तुम विष्णु हो। वह और गंभीर हो गया। मन में सोचा, यह सब समझती है।

( ४ )

कुछ दिनों बाद एक आवर्त आया। भक्त के घरवाले ईश्वर के घर चले गए। धैर्य से उसने यह प्रहार सहा। पहले उसकी पत्नी मरी थी। घर बिलकुल सूना हो गया।

एक दिन पड़ोस की एक भाभी मिलीं। कहने लगीं—"भैया, ऐसी देवी तुम्हें दूसरी नहीं मिल सकती, चाहे तुम दुनिया देख डालो। उसने दो साल पहले मुझसे कहा था, दीदी, मैं दो साल और हूँ।" भक्त दंग हो रहा—पहले के उसके भी संस्कार उग-उगाकर पल्लवित हो चले। वह नहीं समझा कि एक दिन अपनी जन्म-पत्रिका पढ़ते हुए पत्नी से उसने कहा था कि दो साल बाद दारा और बंधुओं से वियोग होगा, लिखा है; इसे पत्नी प्रमाण की तरह ग्रहण किए हुए थी, और इसी के आधार पर दीदी से भविष्यवाणी की थी।

पत्नी की समझ को उसी के सिंदूर की तरह सिर पर धारण कर वह महावीर जी की सेवा में लीन हुआ। अब रामायण भी उन्हें पढ़कर सुनाया करता था। रामायण के ऊँचे गूढ़ अर्थ अभी मस्तिष्क में विकास-प्राप्ति नहीं कर सके। पत्नी के बाद पिता तथा अन्य बंधुओं का भी वियोग हुआ था। राजा ने दया करके एक साधारण नौकरी उसे दी।

उन्हीं दिनों श्रीपरमहंसदेव के शिष्य स्वामी प्रेमानंदजी को राजा के दीवान अपने यहाँ ले गए। राजा की परमहंसदेव के शिष्यों पर विशेष श्रद्धा न थी। वह समझते थे, साधु-महात्मा वह है ही नहीं, जिसके तीन हाथ की जटा, चिमटा न हो, चिलम भी होनी चाहिए, और धनी भी। तभी राजा भक्तिपूर्वक गाँजा पिलाने को राजी होते, परंतु राजा के पढ़े-लिखे नौकर पुराने महात्माओं को जैसा घोंघा समझते थे, राजा को उससे बढ़कर खाजा।

स्वामी प्रेमानंद जी का बड़े समारोह से स्वागत हुआ। भक्त भी था। दीवान साहब भक्त की दीनता से बड़े प्रसन्न थे। भक्त

ने स्वामी जी की माला तथा परमहंस की पूजा के लिए खूब फूल चुने। स्वामी जी मालाओं से भर गए। हँसकर बोले—"तोरा आमा के काली करे दिली।"

( तुम लोगों ने मुझे काली बना दिया। )

भक्त नहीं समझा कि उस दिन उसके सभी धर्मों का वहाँ समाहार हो गया—ब्रह्मचारी महावीर, उनके राम, देवी और समस्त देव-दर्शन उन जीवित सन्यासी में समाकृत हो गए।

बड़ी भक्ति से परमहंसदेव का पूजन हुआ। दीवान साहब कबीर साहब का बँगला अनुवाद स्वामीजी को सुना रहे थे, राज्य के अच्छे-अच्छे कई अफ़सर एकत्र थे, भक्त तुलसी-कृत रामायण सुनाने को ले गया, और स्वामी जी की आज्ञा पा पढ़ने लगा। स्थल वह था, जहाँ सुतीक्ष्ण रामजी से मिले हैं, फिर अपने गुरु के पास उन्हें ले गए हैं। स्वामी जी ध्यान-मग्न बैठे सुनते रहे। "श्यामतामरस-दाम-शरीरम् ; जटा-मुकुट-परिधन-मुनि-चीरम्।" आदि साहित्य-महारथ महाकवि गोस्वामी तुलसीदास की शब्द-स्वर-गंगा बह रही थी, लोग तन्मय मज्जित थे। स्वामी जी के भाव का पता न था। भक्त कुछ थक गया था। पूर्ण विरामवाला दोहा आया, स्वामी जी ने बंद कर देने के लिए कहा।

फिर तरह-तरह के धार्मिक उपदेश होने लगे। स्वामी जी ने दीवान साहब से हर एकादशी महावीर-पूजन और राम-नाम संकीर्तन करने के लिए कहा।

( ५ )

भक्त को नौकरी नहीं अच्छी लगती थी। मन पूजा के सौन्दर्य-निरीक्षण की ओर रहता था। तहसील-वसूल, जमा-ख़र्च,

खत-क़िताबत, अदालत-मुकद्दमा आदि राज्य के कार्य प्रतिक्षण सर्प दंशवत् तीक्ष्ण ज्वालामय हो रहे थे, हर चोट महावीर जी की याद दिलाने लगी। मन में घृणा भी हो गयी, राजा कितना निर्दय, कितना कठोर होता है! प्रजा का रक्त-शोषण ही उसका धर्म है?

उसने नौकरी छोड़ने का निश्चय कर लिया। उस रोज़ शाम को महावीर जी को प्रणाम करके चिंतायुक्त घर लौटा। घर में दूसरा कोई न था, भोजन स्वयं पकाता था। खा पीकर सोचता हुआ सो रहा।

समय समझ कर महावीर जी फिर आए। उसने आज महावीर जी की वीर-मूर्ति देखी। मन इतने दूर आकाश पर था कि नीचे समस्त भारत देखा; पर यह भारत न था—साक्षात् महावीर थे, पंजाब की ओर मुँह, दाहने हाथ में गदा-मौन शब्द-शास्त्र, बंगाल की तरफ से गए बाएँ पर हिमालय-पर्वत की श्रेणी, बगल के नीचे बंगोपसागर, एक घुटना वीर-वेश-सूचक-टूटकर गुजरात की ओर बढ़ा हुआ, एक पैर प्रलम्ब-अँगूठा कुमारी अन्तरीप, नीचे राक्षस-रूप लंका-कमल-समुद्र पट खिला हुआ।

ध्वनि हुई—"वत्स, यह वीर-रूप समझो।" इसके बाद स्वामी प्रेमानन्दजी की प्रशांत मूर्त्ति ऊषा के अरुण प्रकाश की तरह भक्त के सुन्दर मन आकाश से भी ऊँचे उगी। ध्वनि हुई—"वत्स, यह सूक्ष्म भारत है, इससे नीचे नहीं उतर सकते; इनका प्रसार समझ के पार है।" एक बार सूर्य दिखाई दिया, फिर अगणित तारे; प्रकाश मंदतर होता हुआ विलीन हो गया।

फिर उसके पूजित महावीर जी की वही भक्ति-मूर्ति आई,

हाथ जोड़े हुए। उसी मुख से निर्गता हुआ—"मैं इसी तत्त्व को हाथ जोड़े हुए हूँ—यही मेरे राम हैं; तुम इसी तरह रहो। किसी कार्य को छोटा न समझो, न किसी की निंदा करो।"

अंधकार जल पर एक कमल निकला, हाथ जोड़े हुए बोला—"मैं तो राजा का था, तुमने मुझे क्यों तोड़ा?" फिर गुलाब हिल-हिलकर कहने लगे—"मुझे छूने का तुम्हें क्या अधिकार था?" हाथ जोड़े हुए महावीर जी बोले—"वत्स, यहाँ कौन सी चीज़ राजा की नहीं है—यह मूर्ति किसकी खरीदी है? कौन पुजवाता है?"

स्वप्न में आतुर होकर भक्त ने कहा—"ये ग़रीब मरे जा रहे हैं—इनके लिए क्या होगा?"

"ये मर नहीं सकते, इनके लिए वही है, जो वहाँ के राजा के लिए है, इन्हें वही उभाड़ेगा, जो वहाँ के राजा को उभाड़ता है, तुम अपने में रहो। दूर मत आओ।"

मन धीरे धीरे उतरने लगा। देखा, आकाश की नीली लता में सूर्य, चंद्र और ताराओं के फूल हाथ जोड़े खिले हुए एक अज्ञात शक्ति की समीर से हिल रहे हैं, पृथ्वी की लता पर आवर्त्तों के फूल हाथ जोड़े आकाश को नमस्कार कर रहे हैं—आशीर्वाद की शुभ्र हिम-धारा उन पर प्रवाहित है; समुद्रों की फैली लता में आवर्त्तों के फूल खुले हुए अज्ञात किसी पर चढ़ रहे हैं; डाल डाल की बाहें अज्ञात की ओर पुष्प बढ़ाए हुए हैं। तृण-तृण पूजा के रूप और रूपक हैं। इसके बाद उन्हीं-उन्हीं पुष्पों के पूजा-भावों में छन्द और ताल प्रतीयमान होने लगे—सब जैसे आरती करते, हिलते, मौन-भाषा में भावना स्पष्ट करते हों, सबसे गन्ध निर्गत

हो रही है, सत्य की समीर वहन कर रही है, पुष्प-पुष्प पर अज्ञात कहाँ से आशीर्वाद की किरणें पड़ रही हैं। इसके बाद उसकी स्वर्गीया प्रिया वैसे ही सुहाग का सिंदूर लगाए हुए सामने आई।

"वत्स, यह मेरी माता देवी अंजना हैं। इनके मस्तक पर देखो" उसी भक्त-मूर्ति की ध्वनि आई।

मस्तक पर वीर-पूजा का वही सिंदूर शोभित था। मुस्किराकर देवी सरस्वती ने कहा—"अच्छे हो?"

आँख खुल गई, कहीं कुछ न था।

---

# चतुरी चमार

## ( १ )

चतुरी चमार डाकखाना चमियानी, मौजा गढ़ाकोला, जिला उन्नाव का एक क़दीमी बाशिंदा है। मेरे, नहीं, मेरे पिताजी के, बल्कि उनके भी पूर्वजों के मकान के पिछवाड़े, कुछ फ़ासले पर, जहाँ से होकर कई और मकानों के नीचे और ऊपरवाले पनालों का, बरसात और दिन-रात का, शुद्धाशुद्ध जल बहता है, ढाल से कुछ ऊँचे एक बग़ल चतुरी चमार का पुश्तैनी मकान है। मेरी इच्छा होती है, चतुरी के लिये 'गौरवे बहुवचनम्' लिखूँ, क्योंकि साधारण लोगों के जीवन-चरित या ऐसे ही कुछ लिखने के लिये सुप्रसिद्ध संपादक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा दिया हुआ आचार्य द्विवेदीजी का प्रोत्साहन पढ़कर मेरी श्रद्धा बहुत बढ़ गई है; पर एक अड़चन है, गाँव के रिश्ते में चतुरी मेरा भतीजा लगता है। दूसरों के लिये वह श्रद्धेय अवश्य है, क्योंकि उपानह-साहित्य में वह आजकल के अधिकांश साहित्यिकों की तरह अपरिवर्त्तनवादी है। वैसे ही देहात में दूर-दूर तक उसके मजबूत

जूतों की तारीफ है। पासी हफ्ते में तीन दिन हिरन, चौगड़े और बनैले सुअर खदेड़ कर फाँसते हैं, किसान अरहर की ठूँठियों पर ढोर भगाते हुए दौड़ते हैं—कटीली झाड़ियों को दबाकर चले जाते हैं, छोकड़े बेल, बबूल, करील और बेर के काँटों से भरे रूँधवाए बागों से सरपट भगते हैं, लोग जेंगरे पर मड़नी करते हैं, द्वारिका नाई न्योता बाँटता हुआ दो साल में दो हजार कोस से ज्यादा चलता है, चतुरी के जूते अपरिवर्त्तनवाद के चुस्त रूपक-जैसे टस से मस नहीं होते; यह जरूर है कि चतुरी के जूते जिला बांदा के जूतों से वजन में हल्के बैठते हैं; संभव है, चित्रकूट के इर्द-गिर्द होने के कारण वहाँ के चर्मकार भाइयों पर रामजी की तपस्या का प्रभाव पड़ा हो, इसलिये उनका साहित्य ज्यादा ठोस हुआ; चतुरी वगैरह लखनऊ के नजदीक होने के कारण नव्वाबों के साए में आए हों। उन दिनों मैं गाँव रहता था। घर बगल में होने के कारण, घर बैठे ही मालूम कर लिया कि चतुरी चतुर्वेदी आदिकों से संत-साहित्य का अधिक मर्मज्ञ है, केवल चिट्ठी लिखने का ज्ञान न होने के कारण एक-क्रिय होकर भी भिन्न-फल है—वे पत्र और पुस्तकों के संपादक हैं, यह जूतों का। एक रोज मैंने चतुरी आदि के लिये चरस मँगवाकर अपने ही दरवाजे बैठक लगवाई। चतुरी उम्र में मेरे चाचाजी से कुछ ही छोटा होगा, कई घरों के लड़के-बच्चे-समेत 'चरस-रसिक रघुपति-पद-नेहू' लोध आदिकों के सहयोग से मजीरेदार डफलियाँ लेकर वह रात आठ बजे आकर डट गया। कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास, पल्टूदास आदि ज्ञात-अज्ञात अनेकानेक संतों के भजन होने लगे। पहले मैं निर्गुण शब्द का केवल अर्थ लिया करता था, लोगों को 'निर्गुण

पद है' कहकर संगीत की प्रशंसा करते हुए सुनकर हँसता था; अब गंभीर हो जाया करता हूँ—जैसी उम्र की बाढ़ के साथ अक्ल बढ़ती है! मैं मचिया पर बैठकर भजन सुनने लगा। चतुरी आचार्य-कंठ से लोगों को भूले पदों की याद दिला दिया करता। मुझे मालूम हुआ, चतुरी कबीर-पदावली का विशेपज्ञ है। मुझसे उसने कहा—"काका, ये निर्गुण-पद बड़े-बड़े नहीं समझते।" फिर शायद मुझे भी उन्हीं विद्वानों की कोटि का शुमार कर बोला—"इस पद का मतलब—" मैंने उतरे गले से बात काटकर उभड़ते हुए कहा—"चतुरी, आज गा लो, कल सुबह आकर मतलब समझाना। मतलब से गाने की तलब चली जायगी।" चतुरी खँखारकर गंभीर हो गया। फिर उसी तरह डिक्टेट करता रहा। बीच-बीच ओजस्विता लाने के लिए चरस की पुट चलती रही। गाने में मुझे बड़ा आनन्द आया। ताल पर तालियाँ देकर मैंने भी सहयोग किया। वे लोग ऊँचे दर्जे के उन गीतों का मतलब समझते थे, उनकी नीचता पर यह एक आश्चर्य मेरे साथ रहा। बहुत से गाने आलंकारिक थे। वे उनका भी मतलब समझते थे। रात एक तक मैं बैठा रहा। मुझे मालूम न था कि 'भगत' कराने के अर्थ रात-भर गवाने के हैं। तब तक आधी चरस भी ख़त्म न हुई थी। नींद ने ज़ोर मारा। मैंने चतुरी से चलने की आज्ञा माँगी। चरस की ओर देखते हुए उसने कहा—"काका, फिर कैसे काम बनेगा?" मैंने कहा—"चतुरी, तुम्हारी काकी तो भगवान् के यहाँ चली गई, जानते ही हो—भोजन अपने हाथ पकाना पड़ता है, कोई दूसरा मदद के लिए है नहीं, ज़रा आराम न करेंगे, तो कल उठ न पाएँगे।" चतुरी नाराज़ होकर

बोला—"तुम ब्याह करते ही नहीं, नहीं तो तेरह काकी आ जायँ, हाँ, वैसी तो—" मैंने कहा—"चतुरी, भगवान की इच्छा।" दुखी हृदय से सहानुभूति दिखलाते हुए चतुरी ने कहा—"काका बहुत पढ़ी लिखीं थीं। मैंने हसार को कई चिट्ठियाँ उनसे लिखवाई हैं।" फिर चलती हुई चिलम में दम लगाकर धुवाँ पीकर, सर नीचे की ओर जोर से दबाकर, नाक से धुवाँ निकालकर बैठे गले से बोला—"काकी रोटी भी करती थीं, बर्तन भी मलती थीं, और रोज़ रामायण भी पढ़ती थीं बड़ा अच्छा गाती थीं काका, तुम वैसा नहीं गाते, बुढ़ऊ बाबा (मेरे चाचा) दरवाजे बैठते थे—भीतर काकी रामायण पढ़ती थीं। गज़लें और न-जाने क्या क्या—टिल्लाना गाती थीं—क्यों काका?" मैंने कहा—"हूँ, तुम लोग—तुम लोग चतुरी गाओ, मैं दरवाज़ा बन्द करके सुनता हूँ।"

( २ )

जगने तक भगत होती रही। फिर कब बंद हुई, मालूम नहीं। जब आँख खुली, तब काफ़ी दिन चढ़ आया था। मुँह धोकर दरवाज़ा खोला, चतुरी बैठा एकटक दरवाजे की ओर देख रहा था। कबीर-पदावली का अर्थ उससे किसी ने नहीं सुना, मैंने सुबह सुनने के लिए कहा था, वह आया हुआ है। मैंने कहा "क्यों चतुरी, रात सोए नहीं?" चतुरी सहज-गंभीर मुद्रा से बोला—"सोकर जगे तो बड़ी देर हुई, बुलाने की वजह आया हुआ हूँ।" जिनमें शक्ति होती है, अवैतनिक शिक्षक वही हो सकते हैं। मैंने कहा—"मैं तैयार हूँ, पहले तुम कबीर साहब की कोई उल्टबाँसी सीधी करो।" "कौन सुनाऊँ?" चतुरी ने कहा—"एक-से-एक बढ़कर

हैं। मैं कबीर-पंथी हूँ न काका, जहाँ गिरह लगती है, साहब आप खोल देते हैं।" मैंने कहा—"तुम पहुँचे हुए हो, यह मुझे कल्ही मालूम हो गया था।" चतुरी आँख मूँदकर शायद साहब का ध्यान करने लगा, फिर सस्वर एक पद गुनगुनाकर गाने लगा, फिर एक-एक कड़ी गाकर अर्थ समझाने लगा। उसके अर्थ में अनर्थ पैदा करना आनंद खोना था। जब वह भाष्य पूरा कर चुका, जिस तरह के भाष्य से हिन्दी वालों पर 'कल्याण' के निरामिष लेखों का प्रभाव पड़ सकता है, मैंने कहा—"चतुरी, तुम पढ़े-लिखे होते, तो पाँच सौ की जगह पाते।" खुश होकर चतुरी बोला—"काका, कहो, तो अर्जुनवा (चतुरी का एक सत्रह साल का लड़का) को पढ़ने के लिये भेज दिया करूँ, तुम्हारे पास पढ़ जायगा, तुम्हारी विद्या ले लेगा, मैं भी अपनी दे दूँगा, तो कहो, भगवान की इच्छा हो जाय, तो कुछ हो जाय।" मैंने कहा—"भेज दिया करो। दिया घर से लेकर आया करे। हमारे पास एक ही लालटेन है। बहुत नजदीक घिसेगा, तो गाँववाले चौंकेंगे। आगे देखा जायगा। लेकिन गुरु-दक्षिणा हम रोज लेंगे। घबराओ मत। सिर्फ बाजार से हमारे लिए गोश्त ले आना होगा, और महीने में दो दिन चक्की से आटा पिसवा लाना होगा। इसकी मिहनत हम देंगे। बाजार तुम जाते ही हो।" चतुरी को इस सहयोग से बड़ी खुशी हुई। एक प्रसंग पर आने के विचार से मैंने कहा—"चतुरी तुम्हारे जूते की बड़ी तारीफ है।" खुश होकर चतुरी बोला—"हाँ, काका, दो साल चलता है।" उसमें एक दर्द भी दबा था। दुखी होकर कहा—"काका, जिमीदार के सिपाही को एक जोड़ा हर साल देना पड़ता है। एक जोड़ा भगतवा देता है,

एक जोड़ा पंचमवा। जब मेरा ही जोड़ा मजे में दो साल चलता है तब ज्यादा लेकर कोई चमड़े की बरबादी क्यों करे ?" कहकर डबडबाई आँखों देखता हुआ जुड़े हाथों सेवईं-सी बाँटने लगा।

मुझे सहानुभूति के साथ हँसी आ गई। मगर हँसी को होठों से बाहर न आने दिया। सँभलकर स्नेह से कहा—"चतुरी, इसका वाजिब-उल-अर्ज में पता लगाना होगा। अगर तुम्हारा जूता देना दर्ज होगा, तो इसी तरह पुश्त-दर-पुश्त तुम्हें जूते देते रहने पड़ेंगे।"

चतुरी सोचकर मुस्किराया। बोला—"अब्दुल-अर्ज में दर्ज होगा, क्यों काका ?" मैंने कहा—"हूँ, देख लो, सिर्फ एक रुपया हक़ लगेगा।"

वक्त बहुत देर हो गया था। मुझे काम था। चतुरी को मैंने बिदा किया। वह गंभीर होकर सर हिलाता हुआ चला। मैं उसके मनोविकार पढ़ने लगा—"वह एक ऐसा जाल में फँसा है, जिसे वह काटना चाहता है, भीतर से उसका पूरा जोर उभड़ रहा है, पर एक क़मजोरी है, जिसमें बार-बार उलझ कर रह जाता है।"

( ३ )

अर्जुन का आना जारी हो गया। उन दिनों बाहर मुझे कोई काम न था, देहात में रहना पड़ा। गोश्त आने लगा। समय समय पर लोध, पासी, धोबी और चमारों का ब्रह्म-भोज भी चलता रहा। घृत-पक्व मसालेदार मांस की खुशबू से जिसकी भी लार टपकी, आप निमंत्रित होने को पूछा। इस तरह मेरा मकान साधारण जनों का अड्डा, बल्कि House of Commons हो गया। अर्जुन की पढ़ाई उत्तरोत्तर बढ़ चली। पहले पहल जब

'दादा, मामा, काका, दीदी, नानी उसने सीखा, तो हर्ष में उसके मा-बाप सम्राट्-पद पाए हुए को छापकर छलके। सब लोग आपस में कहने लगे, अब अर्जुनवा 'दादा-दीदी' पढ़ गया। अर्जुन अपने बाप चतुरी को दादा और मा को दीदी कहता था। दूसरे दिन उसके बड़े भाई ने मुझसे शिकायत की, कहा—"बाबा, अर्जुनवा और तो सब कुछ लिख-पढ़ लेता है, पर भय्या नहीं लिखता।" मैंने समझाया कि किताब में 'दादा-दीदी' से भय्या की इज़्ज़त बहुत ज्यादा है; भय्या तक पहुँचने में उसे दो महीने की देर होगी।

धीरे धीरे आम पकने के दिन आए। अर्जुन अब दूसरी किताब समाप्त कर अपने खानदान में प्रतिष्ठित हो चला। कुछ नाज़ुक-मिजाज भी हो गया। मोटा काम न होता था। आम खिलाने के बिचार से मैं अपने चिरंजीव को लिवा आने के लिए ससुराल गया। तब उसकी उम्र ९–१० साल की होगी। सोम या चहर्रम में पढ़ता था। मेरे यहाँ उसके मनोरंजन की चीज़ न थी। कोई स्त्री भी न थी, जिसके प्यार से वह बहला रहता। पर दो चार दिन के बाद मैंने देखा, वह ऊबा नहीं, अर्जुन से उसकी गहरी दोस्ती हो गई है। मैं अर्जुन के बाप का जैसा, वह भी अर्जुन का काका लगता था। यद्यपि अर्जुन उम्र में उससे पौने-दो-पट था, फिर भी पद और पढ़ाई में मेरे चिरंजीव बड़े थे, फिर यह ब्राह्मण के लड़के भी थे। अर्जुन को नई और इतनी बड़ी उम्र में उतने छोटे से काका को श्रद्धा देते हुए प्रकृति के विरुद्ध दबना पड़ता था। इसको असर अर्जुन के स्वास्थ्य पर तीन ही चार दिन में प्रत्यक्ष हो चला। तब मुझे कुछ मालूम न था, अर्जुन शिकायत करता न था। मैं देखता था, जब

मैं डाकखाना या बाहर-गाँव से लौटता हूँ, मेरे चिरंजीव अर्जुन के यहाँ होते हैं, या घर ही पर उसे घेरकर पढ़ाते रहते हैं। चमारों के टोले में गोस्वामी जी के इस कथन को—'मनहु मत्त गजगन निरखि सिंह-किसोरहिं चोप'—वह कई बार सार्थक करते देख पड़े। मैं ब्राह्मण-संस्कारों की सब बातों को समझ गया। पर उसे उपदेश क्या देता? चमार दबेंगे, ब्राह्मण दबाएँगे। दवा है, दोनों की जड़ें मार दी जायँ, पर यह सहज-साध्य नहीं। सोचकर चुप हो गया।

मैं अर्जुन को पढ़ाता था, तो स्नेह देकर, उसे अपनी ही तरह का एक आदमी समझकर, उसके उच्चारण की त्रुटियों को पार करता हुआ। उसकी कमजोरियों की दरारें भविष्य में भर जायँगी, ऐसा विचार रखता था। इसलिए कहाँ-कहाँ उसमें प्रमाद है, यह मुझे याद भी न था। पर मेरे चिरंजीव ने चार ही दिन में अर्जुन की सारी कमजोरियों का पता लगा लिया, और समय असमय उसे घर बुलाकर (मेरी ग़ैर-हाजिरी में) उन्हीं कमजोरियों के रास्ते उसकी जीभ को दौड़ाते हुए अपना मनोरंजन करने लगे। मुझे बाद को मालूम हुआ।

सोमवार को भियाँगंज के बाजार का दिन था। गोश्त के पैसे मैंने चतुरी को दे दिए थे। डाकखाना तब मगरायर था। वहाँ से बाजार नजदीक है। मैं डाकखाने से प्रबंध भेजने के लिये टिकट लेकर टहलता हुआ बाजार गया। चतुरी जूते की दूकान लिए बैठा था। मैंने कहा—"कालिका (धोबी) भैया आये हुए हैं, चतुरी, हमारा गोश्त उनके हाथ भेज देना। तुम बाजार उठने पर जाओगे, देर होगी।" चतुरी ने कहा—"काका, एक बात

है, अर्जुनवा तुमसे कहते डरता है, मैं घर आकर कहूँगा, बुरा न मानना लड़कों की बात का।" 'अच्छा' कहकर मैंने बहुत कुछ सोच लिया। बक़र-क़साई के सलाम का उत्तर देकर बादाम और ठंडई लेने के लिये बनियों की तरफ गया। बाज़ार में मुझे पहचाननेवाले न पहचाननेवालों को मेरी विशेषता से परिचित करा रहे थे—चारों ओर से आँखें उठी हुई थीं—ताज्जुब यह था कि अगर ऐसा आदमी है, तो मांस खाना-जैसा घृणित पाप क्यों करता है। मुझे क्षण-मात्र में यह सब समझ लेने का काफी अभ्यास हो गया था। गुरुमुख ब्राह्मण आदि मेरे घड़े का पानी छोड़ चुके थे। गाँव तथा पड़ोस के लड़के अपने-अपने भक्तिमान पिता-पितामहों को समझा चुके थे कि बाबा ( मैं ) कहते हैं, मैं पानी-पाँड़े थोड़े ही हूँ, जो ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे सबको पानी पिलाता फिरूँ। इससे लोग और नाराज़ हो गए थे। साहित्य की तरह समाज में भी दूर-दूर तक मेरी तारीफ फैल चुकी थी—विशेष रूप से जब एक दिन वलायत की रोटी-पार्टी की तारीफ करनेवाले एक देहाती स्वामीजी को मैंने कबाब खाकर काबुल में प्रचार करने-वाले, रामचन्द्रजी के वक्त के, एक ऋषि की कथा सुनाई, और मुझसे सुनकर वही गाँव के ब्राह्मणों के सामने बीड़ी पीने के लिये प्रचार करके भी वह मुझे नीचा नहीं दिखा सके—उन दिनों भाग्य-वश मिले हुए अपने आवारागर्द नौकर से बीड़ी लेकर, सबके सामने दियासलाई लगाकर मैंने समझा दिया कि तुम्हारा इस जूठे धुए से बढ़कर मेरे पास दूसरा महत्त्व नहीं।

मैं इन आश्चर्य की आँखों के भीतर बादाम और ठण्डाई लेकर ज़रा रीढ़ सीधी करने को हुआ कि एक बुड्ढे पंडितजी एक

देहाती भाई के साथ मेरी ओर बढ़ते नजर आये। मैंने सोचा, शायद कुछ उपदेश होगा। पंडितजी सारी शिकायत पीकर, मधु-मुख हो अपने प्रदर्शक से बोले—"आप ही हैं?" उसने कहा—"हाँ, यही हैं।" पंडित जी देखकर गद्‌गद् हो गए। ठोढ़ी उठाकर बोले—'ओ होहो! आप धन्य हैं।" मैंने मन में कहा—"नहीं, मैं वन्य हूँ। मजाक करता है खूसट।" पर गौर से उनका पग्ग और खौर देखकर कहा—"प्रणाम करता हूँ पंडित जी।" पंडित जी मारे प्रेम के संज्ञा खो बैठे। मेरा प्रणाम मामूली प्रणाम नहीं—बड़े भाग्य से मिलता है। मैं खड़ा पंडित जी को देखता रहा। पंडित जी ने अपने देहाती साथी से पूछा—"आप बे-मे सब पास हैं?" उनका साथी अत्यंत गंभीर होकर बोला—"हाँ। जिला में दूसरा नहीं है।" होंठ काटकर मैंने कहा—"पंडित जी, रास्ते में दो नाले और एक नदी पड़ती है। भेड़िए लागन हैं। डंडा नहीं लाया। आज्ञा हो, तो चलूँ—शाम हो रही है।" पंडित जी स्नेह से देखने लगे। जो शिकायत उन्होंने सुनी थी, आँखों में उस पर संदेह था; दृष्टि कह रही थी—"यह वैसा नहीं—जरूर गोश्त न खाता होगा, बीड़ी न पी होगी, लोग पाजी हैं।" प्रणाम करके आशीर्वाद लेकर मैंने घर का रास्ता पकड़ा।

दरवाजे पर आकर रुक गया। भीतर बातचीत चल रही थी। प्रकाश कुछ-कुछ था। सूर्य डूब रहे थे। मेरे पुत्र की आवाज आई—"बोल रे बोल।" इस वीर-रस का अर्थ मैं समझ गया। अर्जुन बोलता हुआ हार चुका था, पर चिरंजीव को रस मिलने के कारण बुलाते हुए हार न हुई थी। चूँकि बार बार बोलना पड़ता था, इसलिये अर्जुन बोलने से ऊबकर चुप था। डाँटकर पूछा

गया, तो सिर्फ़ कहा—"क्या ?"

"ब्ही-गुण, बो-ल।"

अर्जुन ने कहा—"गुड़।"

बच्चे के अट्टहास से घर गूँज उठा। भरपेट हँसकर, स्थिर होकर फिर उसने आज्ञा की—"बोल—गणेश।"

रोनी आवाज़ में अर्जुन ने कहा—"गड़ेस।" खिलखिलाकर, हँसकर, चिरंजीव ने डाँटकर कहा—"गड़ेस-गड़ास करता है—साफ़ नहीं कह आता—क्यों रे, रोज़ दातौन करता है ?"

अर्जुन अप्रतिभ होकर, दबी आवाज़ में एक छोटी-सी 'हूँ' करके, सर झुकाकर रह गया। मैं दरवाज़ा धीरे से धकेल कर भीतर खंभे की आड़ से देख रहा था। मेरे चिरंजीव उसे उसी तरह देख रहे थे, जैसे गोरे काले को देखते हैं। ज़रा देर चुप रहकर फिर आज्ञा की—"बोल वर्ण।"

अर्जुन की जान की आ पड़ी। मुझे हँसी भी आई, गुस्सा भी लगा। निश्चय हुआ, अब अर्जुन से विद्या का धनुष नहीं उठने का। अर्जुन वर्ण के उच्चारण में विवर्ण हो रहा था। तरह-तरह से मुँह बना रहा था। पर खुलकर कुछ कहता न था। उसके मुँह बनाने का आनंद लेकर चिरंजीव ने फिर डाँटा—"बोलता, है या लगाऊँ झापड़। नहा लूँगा, गरमी तो है।"

मैंने सोचा, अब प्रकट होना चाहिए। मुझे देखकर अर्जुन खड़ा हो गया, और आँखें मल-मलकर रोने लगा। मैंने पुत्र-रत्न से कहा—"कान पकड़ कर उठो-बैठो दस दफ़े।" उसने नजर बदलकर कहा मेरा कुसूर कुछ नहीं, और मैं यों ही कान पकड़कर उठूँ-बैठूँ।" मैंने कहा—"तुम इससे गुस्ताख़ी कर रहे थे।" उसने

कहा—"तो आपने भी की होगी। इससे गुण कहला दीजिए, आपने पढ़ाया तो है, इसकी किताब में लिखा है।" मैंने कहा—"तुम हँसते क्यों थे?" उसने कहा—"क्या मैं जान-बूझकर हँसता था?" मैंने कहा—"अब आज से तुम इससे बोल न सकोगे।" लड़के ने जवाब दिया—"मुझे मामा के यहाँ छोड़ आइए, यहाँ डाल के आम खट्टे होते हैं—चोपी होती है—मुँह फदक जाता है, वहाँ पाल के आम आते हैं।"

चिरंजीव को नाई के साथ भेजकर मैंने अर्जुन और चतुरी को सांत्वना दी।

( ४ )

कुछ महीने और मुझे गाँव रहना पड़ा। अर्जुन कुछ पढ़ गया। शहरों की हवा मैंने बहुत दिनों से न खाई थी—कलकत्ता, बनारस, प्रयाग आदि का सफर करते हुए लखनऊ में डेरा डाला—स्वीकृत किताबें छपवाने के विचार से। कुछ काम लखनऊ में और मिल गया। अमीनाबाद होटल में एक कमरा लेकर निश्चित चित्त से साहित्य-साधना करने लगा।

इन्हीं दिनों देश में आंदोलन जोरों का चला—यही, जो चतुरी आदिकों के कारण फिस्स हो गया है। होटल में रहकर, देहात से आनेवाले शहरी युवक मित्रों से सुना करता था, गढ़ाकोला में भी आन्दोलन ज़ोरों पर है—छ-सात सौ तक का जोत किसान लोग इस्तीफा देकर छोड़ चुके हैं—वह ज़मीन अभी तक नहीं उठी—किसान रोज़ इकट्ठे होकर झंडा-गीत गाया करते हैं। साल-भर बाद, जब आन्दोलन में प्रतिक्रिया हुई, ज़मीदारों ने

दावा करना और रियाया को बिना किसी रियायत के दबाना शुरू किया, तब गाँव के नेता मेरे पास मदद के लिये आए, बोले—"गाँव में चलकर लिखो। तुम रहोगे तो मार न पड़ेगी, लोगों को हिम्मत रहेगी, अब सख्ती हो रही है।" मैंने कहा—"मैं कुछ पुलिस तो हूँ नहीं, जो तुम्हारी रक्षा करूँगा, फिर मार खाकर चुपचाप रहनेवाला धैर्य मुझमें बहुत थोड़ा है, कहीं ऐसा न हो कि शक्ति का दुरुपयोग हो।" गाँव के नेता ने कहा—"तुम्हें कुछ करना तो है नहीं, बस बैठ रहना है।" मैं गया।

मेरे गाँव की कांग्रेस ऐसी थी कि ज़िले के साथ उसका कोई तअल्लुक़ न था—किसी खाते में वहाँ के लोगों के नाम दर्ज न थे। पर काम में पुरवा-डिवीज़न में उससे आगे दूसरा गाँव न था। मेरे जाने के बाद पता नहीं, कितनी दरख्वास्तें ज़मींदार साहब ने इधर-उधर लिखीं।

कच्चे रँगों से रंगा तिरंगा झंडा महावीर स्वामी के सामने एक बड़े बाँस में गड़ा, बारिश से धुलकर धवल हो रहा था। इन दिनों मुकद्दमेबाजी और तहक़ीक़ात ज़ोरों से चल रही थी। कुछ किसानों पर, एक साल के हरी-भूसे को तीन साल की बाकी बनाकर, ज़मींदार साहब ने दावे दायर किए थे, जो अपनी क्षुद्रता के कारण ज़मींदार ऑनरेरी मजिस्ट्रेट के पास आकर किसानों की दृष्टि में और भयानक हो रहे थे। एक दिन, दरख्वास्तों के फलस्वरूप शायद, दारोग़ाजी तहक़ीक़ात करने आए। मैं मगरायर डाक देखने जा रहा था। बाहर निकला, तो लोगों ने कहा—"दारोगाजी आए हैं अभी रहो।" आगे दारोग़ा जी भी मिल गए। ज़मींदार साहब ने मेरी तरफ़ दिखाकर अँगरेज़ी में धीरे से

कुछ कहा। तब मैं कुछ दूर था, सुना नहीं। गाँववाले समझे नहीं, दारोग़ा जी झंडे की तरफ जा रहे थे। ज़मीदार शायद उखड़वा देने के इरादे लिए जा रहे थे। महावीरजी के अहाते में झंडा देखकर दारोग़ा जी कुछ सोचने लगे, बोले—"यह तो बंदर का झंडा है।" अच्छी तरह देखा, उसमें कोई रंग न देख पड़ा। ज़मीदार साहब को ग़ौर से देखते हुए लौटकर डेरे की तरफ चले। ज़मीदार साहब ने बहुत समझाया कि यह बारिश से धुलकर सफेद हो गया है, लेकिन है यह कांग्रेस का झंडा। पर दारोग़ा जी बुद्धिमान थे। महावीर जी के अहाते में सफ़ेद झंडे को उखड़वाकर वीरता प्रदर्शित करने की आज्ञा न दी। गाँव में कांग्रेस है, इसका पता न सब-डिवीजन में लगा, न ज़िले में; थानेदार साहब करें क्या?

उन दिनों मुझे उन्निद्र-रोग था। इसलिये सर के बाल साफ़ थे। मैंने सोचा—"वेश का अभाव है, तो भाषा को प्रभावशाली करना चाहिए; नहीं तो थानेदार साहब पर अच्छी छाप न पड़ेगी। वहाँ तो महावीर स्वामी की कृपा रही, यहाँ अपनी ही सरस्वती का सहारा है।" मैं ठेठ देहाती हो रहा था। थानेदार साहब ने मुझसे पूछा—"आप कांग्रेस में हैं।" मैंने सोचा, इस समय राष्ट्रभाषा से राजभाषा का बढ़कर महत्त्व होगा। कहा—"मैं तो विश्व-सभा का सदस्य हूँ।" इस सभा का नाम भी थानेदार साहब ने न सुना था। पूछा—"यह कौन-सी सभा है?" उनके जिज्ञासा-भाव पर गम्भीर होकर नोबल-पुरस्कार पाए हुए कुछ लोगों के नाम गिनाकर मैंने कहा—"ये सब उसी सभा के सदस्य हैं।" थानेदार साहब क्या समझे; वे जानें। मुझसे पूछा,

"इस गाँव में कांग्रेस है ?" मैंने सोचा, युधिष्ठिर की तरह सत्य की रक्षा करूँ, तो असत्य-भाषण का पाप न लगेगा। कहा—"इस गाँव के लोग तो कांग्रेस का मतलब भी नहीं जानते।" इतना कहकर मैंने सोचा—"अब ज्यादा बातचीत ठीक न होगी।" उठकर खड़ा हो गया, और थानेदार साहब से कहा—"अच्छा मैं चलता हूँ। ज़रा डाकखाने में काम है। मेरी ज़रूरी चिट्ठियाँ होती हैं, और रजिस्ट्री, अखबार, मासिक पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं, फिर उस गाँव में हम लोगों की लाइब्रेरी भी है, जाना पड़ता है।" थानेदार साहब ने पूछा—"कांग्रेस की चिट्ठियाँ आती हैं ?" मैंने कहा—"नहीं, मेरी अपनी।" मैं चला आया। थानेदार साहब ज़मींदार साहब से शायद नाराज़ होकर गए।

इससे बचाव हुआ, पर मुकद्दमा चलता रहा। ज़मींदार ऑनरेरी मजिस्ट्रेट ने, जिनके एक रिश्तेदार ज़मींदार की तरफ से वक़ील थे, किसानों पर ज़मींदार को डिगरी दे दी। बाद को चतुरी वग़ैरह की बारी आई। दावे दायर हो गए, अब तक जो सम्मिलित धन मुकद्दमों में लग रहा था, सब खर्च हो गया। पहले की डिगरी में कुछ लोगों के बैल वग़ैरह नीलाम कर लिए गए। लोग घबराए। चतुरी को मदद की आशा न रही। गाँववालों ने चतुरी आदि के लिए दोबारा चन्दा न लगाया।

चतुरी सूखकर मेरे सामने आकर खड़ा हुआ। मैंने कहा—"चतुरी, मैं शक्ति-भर तुम्हारी मदद करूँगा।"

"तुम कहाँ तक मदद करोगे काका ?" चतुरी जैसे कुएँ में डूबता हुआ उभड़ा।

"तो तुम्हारा क्या इरादा है ?" उसे देखते हुए मैंने पूछा।

"मुकद्दमा लड़ूँगा। पर गाँववाले डर गए हैं, गवाही न देंगे।" दिल से बैठा हुआ चतुरी बोला।

उस परिस्थिति पर मुझे भी निराशा हुई। उसी स्वर से मैंने पूछा—"फिर, चतुरी?"

चतुरी बोला—"फिर छेदनी-पिरकिया आदि मालिक ही ले लें।"

( ५ )

मैंने गाँव में कुछ पक्के गवाह ठीक कर दिए। सत्तू बाँधकर, रेल छोड़कर, पैदल दस कोस उन्नाव चलकर, दूसरी पेशी के बाद पैदल ही लौटकर हँसता हुआ चतुरी बोला—"काका, जूता और पुरवाली बात अब्दुल-अर्ज में दर्ज नहीं है।"

# हिरनी

## ( १ )

कृष्णा की बाढ़ बह चुकी है; सुतीक्ष्ण, रक्त-लिप्त, अदृश्य दाँतों की लाल जिह्वा, योजनों तक, क्रूर, भीषण मुख फैलाकर, प्राण-सुरा पीती हुई मृत्यु तांडव कर रही है। सहस्रों गृह-शून्य, क्षुधा-क्लिष्ट, निःस्व जीवित कंकाल, साक्षात् प्रेतों से इधर-उधर घूम रहे हैं। आर्तनाद, चीत्कार, करुणानुरोधों में सेनापति अकाल की पुनः पुनः शंख-ध्वनि हो रही है। इसी समय सजीव शांति की प्रतिमा-सी एक निर्वास-बालिका शून्यमना दो शवों के बीच खड़ी हुई चिदंबर को देख पड़ी।

"ये तुम्हारे कौन हैं?" शवों की ओर इंगित कर वहीं की भाषा में चिदंबर ने पूछा।

बालिका आश्चर्य की तन्मय दृष्टि से शवों को कुछ देर देखती रहकर शून्य भाव से अज्ञात मनुष्य की ओर देखने लगी।

चिदंबर ने अपनी तरफ़ से पूछा—"ये तुम्हारे मा-बाप हैं?"

बालिका की आँखें सजल हो आईं।

चिदंबर ने सस्नेह कहा—"बेटी, हमारे साथ डेरे चलो, तुमको अच्छा अच्छा खाना देंगे।"

बालिका साथ हो ली। उसकी अंतरात्मा उसे समझा चुकी थी कि उसके माता-पिता उस नींद से न जगेंगे। उसे माता-पिता को सचेत करने का इतना उद्यम पहले कभी नहीं करना पड़ा, यही उसके प्राणों में उनके सदा अचेत रहने का अटल विश्वास हुआ।

पहले चिदंबर ने अच्छी तरह, उसे अपना दुपट्टा पहना दिया, फिर उँगली पकड़ कर धीरे-धीरे डेरे की ओर चला, जो वहाँ से कुछ ही फासले पर था। अकाल-पीड़ितों की समुचित सेवा के लिए मदरास के 'पतित-पावन संघ' के प्रधान निरीक्षक की हैसियत से संघ को साथ लेकर चिदंबर वहाँ गया था।

( २ )

कुछ दिनों बाद धन-संग्रह के लिये चिदंबर को मदरास जाना पड़ा। शिक्षण-पोषण के लिये अनाथ-आश्रम में भर्त्ती कर देने के उद्देश्य से बालिका को भी साथ ले गया। वहाँ जाने पर मालूम हुआ कि राजा रामनाथसिंह रामेश्वरजी के दर्शन कर कुछ दिनों से ठहरे हुए हैं, उसे मिल आने के लिये बुलावा भेजा था। चिदंबर के पिता जज के पद से पेंशन लेकर कुछ दिनों तक राजा साहब के यहाँ दीवान रह चुके थे; उन दिनों चिदंबर को पिता के पास युक्तप्रांत में रहकर प्रयाग-विश्वविद्यालय में अध्ययन करना पड़ा था। अब उसके पिता नहीं हैं।

संवाद पा राजा साहब से मिलने के लिये चिदंबर उनके

वास-स्थल को गया। बाद की बातचीत में बालिका का प्रसंग भी आया। चिदंबर उसे अनाथ आश्रम में परवरिश के लिये छोड़ रहा है, यह सुनकर कारुण्य-वश राजा साहब ने ही उसे अपने साथ सिंहपुर ले जाने के लिये कहा। चिदंबर इनकार करे, ऐसा कारण न था; बालिका रानी साहिबा की देख-रेख में, उन्हीं के साथ, उनकी राजधानी गई।

( ३ )

आठ साल की लड़की रानी साहिबा की दासियों से स्नेह तथा निरादर प्राप्त करती हुई, उन्हीं में रहकर, उन्हीं के संस्कारों में ढलती हुई धीरे धीरे परिणत हो चली। वहाँ जो धर्म दासियों का, जो भगवान् रानी से सेविकाओं तक के थे, वही उसके भी हो गए। झूठ अपराध लगने पर दासियों की तरह वह भी कसम खाकर कहने लगी, "अगर मैंने ऐसा किया हो, तो सरकार, सीतला भवानी मेरी आँख ले लें।" वहाँ सभी हिंदी बोलती थीं, पर जो मधुरता उसके गले में थी, वह दूसरे में न थी; जैसे हारमोनियम के तीसरे सप्तक पर बोलती हो। रानी साहिबा उससे प्रसन्न थीं। क्योंकि दूसरी दासियों से वह काम करने में तेज और सरल थी। उसका नाम हिरनी रक्खा था। वह जिस रोज रनिवास में आई थी, तब से आज तक, उसी तरह, अरण्य की, दल से छुटी हुई, छोटी हरणी-सी, एकाएक खड़ी होकर, सजल-दृग, पार्श्व-स्थिति का ज्ञान-सा प्राप्त करने लगती है कि वह कहाँ आई, यहाँ कोई भय तो नहीं। दृष्टि के सूक्ष्मतम तार इस पृथ्वी के परिचय से नहीं, जैसे शून्य आकाश से बाँधे हुए हों; जैसे उसे

पृथ्वी पर उतार कर विधाता ने एक भूल की हो। उसके इस भाव के दर्शन से 'हिरनी' नाम, कवि के शब्द की तरह, रानी के कंठ से आप निकल आया था।

वही हिरनी अब जीवन के रूपोज्ज्वल वसंत में कली की तरह मधु-सुरभि से भरकर चतुर्दिक् सूचना-सी दे रही है कि प्रकृति की दृष्टि में अमीर और ग़रीबवाला क्षुद्र भेद-भाव नहीं, वह सभी की आँखों को एक दिन यौवन की ज्योत्स्ना से स्निग्ध कर देती है; किरणों के जल से भरकर, जीवन में एक ही प्रकार की लहरें उठाती हुई, परिचय के प्रिय पथ पर बहा ले जाती है; जो सबसे बड़ी है, जिसके भीतर ही बड़े और छोटे की नाम में भ्रम है, वह स्वयं कभी छोटे और बड़े का निर्णय नहीं करती, उसकी दृष्टि में सभी बराबर हैं, क्योंकि सब उसीके हैं। उसी ने हिरनी में एक आशा, एक अज्ञात सुख की आकांक्षा भी भर दी, जिससे दृष्टि में मद, मद में नशा, नशे में संसार के विजय की निश्चल भावना मनुष्य को स्त्री के प्रणय के लिये खींचती रहती है।

इसी समय इँगलैंड से शिक्षा प्राप्त कर राजकुमार घर लौटे थे, और दो-तीन बार हिरनी को बुला चुके थे। रानी दूसरी दासियों से यह समाचार पाकर हिरनी का विवाह कर देने की सोचने लगीं। वहीं एक कहार रामगुलाम रहता था। नौजवान था। रानी साहिबा ने उससे पुछवाया कि हिरनी से विवाह करने को वह राजी है या नहीं। वह बहुत खुश हुआ, उत्तर में अपनी खुशी को दबाकर रानी साहिबा को खुश करनेवाले शब्दों में कहा, "सरकार की जैसी मर्जी हो, सरकार की हुकुम-अदूली मुझसे न होगी।"

विवाह में घरवालों की राय न थी। रामगुलाम बाग़ी हो गया।

एक दिन उसके साथ हिरनी का विवाह प्रासाद के आँगन में कर दिया गया। हिरनी पति के साथ रहने लगी। साल ही भर में एक लड़की की माँ हो गई।

( ४ )

दो साल और पार हो गए। रानी साहिबा का स्नेह, हिरनी के कन्या-स्नेह के बढ़ने के साथ-साथ, उस पर से घटने लगा। जिन दासियों की पहले उसके सामने न चलती थी, वे ताक पर थीं कि मौक़ा मिले, तो बदला चुका लें।

एक दिन रानी साहिबा ताश खेल रही थीं। पक्ष और विपक्ष में उन्हीं की दासियाँ थीं। श्यामा उर्फ़ स्याही उन्हीं की तरफ़ थी। मौका अच्छा समझ कर बोली—"सरकार को हिरनी ने आज फिर धोका दिया; मैं गई थी, उसकी लड़की को जूड़ी-बुख़ार कहीं कुछ भी नहीं।"

लड़की की बीमारी के कारण हिरनी दो दिन की छुट्टी ले गई थी। रानी साहिबा पहले ही से नाराज थीं। अब धुवाँ देती हुई लकड़ी को हवा लगी, वह जल उठी। रानी साहिबा ने उसी वक्त स्याही को एक नौकर से पकड़ लाने के लिये कहने को भेज दिया। स्याही पुलकित होकर बूटासिंह के पास गई। बूटासिंह से उसकी आशनाई थी। बोली, "सरकार कहती हैं, हिरनी का झोंटा पकड़-कर ले आओ, अभी ले आओ, बहुत जल्द।"

बूटासिंह जब गया, तब हिरनी बालिका के लिये वैद्य की दी एक दवा अपने दूध में घोल रही थी। बूटासिंह को मतलब

समझाने के लिये तो कहा नहीं गया था। उसने झोंटा पकड़कर खींचते हुए कहा, "चल, सरकार बुलाती हैं।"

प्रार्थना की करुण चितवन से बूटासिंह को देखती हुई हिरनी बोली—"कुछ देर के लिये छोड़ दो, मयना को दवा पिला दूँ।"

घसीटता हुआ बूटासिंह बोला, "लौटकर दवा पिला चाहे जहर, सरकार ने इसी वक्त बुलाया है।"

स्याही साथ लेकर ऊपर गई। हिरनी रानी साहिबा की मुद्रा तथा क्रूर चितवन देखकर काँपने लगी।

रानी साहिबा ने हिरनी को पास पकड़ लाने के लिये स्याही से कहा, स्याही ने जोर से खींचा, पर हिरनी का हाथ छूट गया, जिससे वह गिर गई, हाथ मोच खाकर उतर गया।

रानी साहिबा क्रोध से काँपने लगीं। दूसरी दासियों को पकड़ लाने के लिये भेजा। इच्छा थी कि उसका सर दबाकर स्वयं प्रहार करें। दासियाँ पकड़कर ले चलीं, तो रानी साहिबा को आँसुओं में देखती हुई उसी अनिंद्य हिंदी में हिरनी क्षमा-प्रार्थना करती हुई बोली, "सरकार, मेरा कुछ कुसूर नहीं है।"

पर कौन सुनता है, उससे रानी साहिबा की सेवा में कसर रह गई है।

जब पास पहुँची, उसको झुकाकर मारने के लिये रानी साहिबा ने घूँसा बाँधा।

हिरनी के मुख से निकला—हे "रामजी !"

रानी साहिबा की नाक से खून की धारा बह चली। वह वहीं मूर्च्छित हो गई। हिरनी के बाल, मुख उसी खून से रँग गए।

देवी

( ५ )

डॉक्टरों ने आकर कहा, गुस्से से खून सर पर चढ़ गया है। तब से ज़रा भी गुस्सा करने पर रानी साहिबा को यह बीमारी हो जाती है।

———

# सुकुल की बीबी

## ( १ )

बहुत दिनों की बात है। तब मैं लगातार साहित्य-समुद्र-मंथन कर रहा था। पर निकल रहा था केवल गरल। पान करनेवाले अकेले महादेव बाबू ( 'मतवाला'—संपादक )। शीघ्र रत्न और रंभा के निकलने की आशा से अबिराम मुझे मथते जाने की सलाह दे रहे थे। यद्यपि बिप की ज्वाला महादेव बाबू की अपेक्षा मुझे ही अधिक जला रही थी, फिर भी मुझे एक आश्वासन था कि महादेव बाबू को मेरी शक्ति पर मुझसे भी अधिक विश्वास है। इसीपर वेदांत-विषयक नीरस एक सांप्रदायिक पत्र का संपादन-भार छोड़ कर मनसा-वाचा-कर्मणा सरस कविता-कुमारी की उपासना में लगा। इस चिरंतन चिंतन का कुछ ही महीने में फल प्रत्यक्ष हुआ; साहित्य-सम्राट् गोस्वामी तुलसीदासजी की मदन दहन समय वाली दर्शन-सत्य उक्ति हेच मालूम दी, क्योंकि गोस्वामीजी ने, उस समय, दो ही दंड के लिये, कहा है—'अबला बिलोकहिं पुरुपमय अरु पुरुष सब अबलामयम्।' पर मैं घोर

सुषुप्ति के समय को छोड़कर, बाकी स्वप्न और जाग्रत के समस्त दंड, ब्रह्मांड को अबलामय देखता था।

इसी समय दरबान से मेरा नाम लेकर किसी ने पूछा—"हैं ?"

मैंने जैसे वीणा-झंकार सुनी। सारी देह पुलकित हो गई, जैसे प्रसन्न होकर पीयूषवर्षी कंठ से साक्षात् कविता-कुमारी ने पुकारा हो, बड़े अपनाव से मेरा नाम लेकर। एक साथ कालिदास, शेक्सपियर, बंकिमचंद्र और रवीन्द्रनाथ की नायिकाएँ दृष्टि के सामने उतर आईं। आप ही एक निश्चय बँध गया—यह वही हैं, जिन्हें कल कार्नवालिस-स्क्वायर पर देखा था—टहल रही थीं। मुझे देखकर पलकें झुका ली थीं। कैसी आँखें वे!—उनमें कितनी बातें!—मेरे दिल के साफ़ आईने में उनकी सच्ची तसवीर उतर आई थी, और मैं भी, वायु-वेग से उनकी बग़ल से निकलता हुआ, उन्हें समझा आया था कि मैं एक अत्यंत सुशील, सभ्य, शिक्षित और सच्चरित्र युवक हूँ। बाहर आकर, गेट पर, एक मोटर खड़ी देखी थी। ज़रूर वह उन्हीं की मोटर थी। उन्होंने ड्राइवर से मेरा पीछा करने के लिये कहा होगा। उससे पता मालूम कर, नाम जानकर, मिलने आई हैं। अवश्य यह बेथून कॉलेज की छात्रा हैं। उसी के सामने मिली थीं। कविता से प्रेम होगा। मेरे छंद की स्वछंदता कुछ आई होगी इनकी समझ में, तभी बाक़ी समझने के लिये आई हैं।

उठकर जाना अपमानजनक जान पड़ा। वहीं से दरबान को ले आने की आज्ञा दी।

अपना नंगा बदन याद आया। ढकता कोई कपड़ा न था।

कल्पना में सजने के तरह-तरह के सूट याद आए, पर वास्तव में, दो मैले कुर्त्ते थे। बड़ा गुस्सा लगा, प्रकाशकों पर। कहा, नीच हैं, लेखकों की क़द्र नहीं करते। उठकर मुंशी जी के कमरे में गया, उनकी रेशमी चादर उठा लाया। क़ायदे से गले में डालकर देखा, फबती है या नहीं। जीने से आहट नहीं मिल रही थी, देर तक कान लगाए बैठा रहा। बालों की याद आई—उकस न गए हों। जल्द-जल्द आईना उठाया। एक बार मुंह देखा, कई बार आँखें सामने रेल-रेलकर। फिर शीशा बिस्तरे के नीचे दबा दिया। शॉ की 'वेटिंग मैरेड' सामने करके रख दी। डिक्शनरी की सहायता से पढ़ रहा था, डिक्शनरी किताबों के अन्दर छिपा दी। फिर तन कर गंभीर मुद्रा से बैठा।

आगंतुका को दूसरी मंजिल पर आना था। जीना गेट से दूर था।

फिर भी देर हो रही थी। उठकर कुछ क़दम बढ़ाकर देखा, मेरे बचपन के मित्र मिस्टर सुकुल आ रहे थे।

बड़ा बुरा लगा, यद्यपि कई साल बाद की मुलाक़ात थी। कृत्रिम हँसी से होंठ रँग कर उनका हाथ पकड़ा, और लाकर उन्हें बिस्तरे पर बैठाला।

बैठने के साथ ही सुकुल ने कहा—"श्रीमतीजी आई हुई हैं।"

मेरी रूखी जमीन पर आषाढ़ का पहला दौंगरा गिरा। प्रसन्न होकर कहा—"अकेली हैं, रास्ता नहीं जाना हुआ, तुम भी छोड़-कर चले आए, बैठो तब तक, मैं लिवा लाऊँ—तुम लोग देवियों की इज्जत करना नहीं जानते।"

सुकुल मुस्किराए, कहा—"रास्ता न मालूम होने पर निकाल

लेंगी—ग्रैज्युएट हैं, ऑफिस में 'मतवाला' की प्रतियाँ खरीद रहीं हैं, तुम्हारी कुछ रचनाएँ पढ़कर खुश होकर।"

मैं चल न सका। गर्व को दबा कर बैठ गया। मन में सोचा, कवि की कल्पना झूठ नहीं होती। कहा भी है, 'जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि।'

कुछ देर चुपचाप गंभीर बैठा रहा। फिर पूछा—"हिंदी क़ाफी अच्छी होगी इनकी?"

"हाँ", सुकुल ने विश्वास के स्वर से कहा—"ग्रैज्युएट हैं।"

बड़ी श्रद्धा हुई। ऐसी ग्रैज्युएट देवियों से देश का उद्धार हो सकता है, सोचा। निश्चय किया, अच्छी चीज़ का पुरस्कार समय देता है। ऐसी देवीजी के दर्शनों की उतावली बढ़ चली, पर सभ्यता के विचार से बैठा रहा, ध्यान में उनकी अदृष्ट मूर्ति को भिन्न-भिन्न प्रकार से देखता हुआ।

एक बार होश में आया, सुकुल को धन्यवाद दिया।

( २ )

सुकुल का परिचय आवश्यक है। सुकुल मेरे स्कूल के दोस्त हैं, साथ पढ़े। उन लड़कों में थे, जिनका यह सिद्धान्त होता है कि सर कट जाय, चोटी न कटे। मेरी समझ में सर और चोटी की तुलना नहीं आई; मैं सोचता था, पूँछ कट जाने पर जंतु जीता है, पर जंतु कट जाने पर पूँछ नहीं जीती; पूँछ में फिर भी खाल है, खून है, हाड़ और मांस है, पर चोटी सिर्फ बालों की है, बालों के साथ कोई देहात्मबोध नहीं। सुकुल-जैसे चोटी के एकांत उपासकों से चोटी की आध्यात्मिक व्याख्या कई बार सुनी थी, पर सग्रंथि

बालों के बल्ब में आध्यात्मिक इलेक्ट्रिसिटी का प्रकाश न मुझे कभी देख पड़ा, न मेरी समझ में आया। फलतः सुकुल की और मेरी अलग-अलग टोलियाँ हुईं। उनकी टोली में वे हिन्दू-लड़के थे, जो अपने को धर्म की रक्षा के लिये आया हुआ समझते थे, मेरी में वे लड़के, जो मित्र को धर्म से बड़ा मानते हैं, अतः हिंदू, मुसलमान, क्रिस्तान, सभी। हम लोगों के मैदान भी अलग-अलग थे। सुकुल का खेल अलग होता था, मेरा अलग। कभी-कभी मैं मित्रों के साथ सलाह करके सुकुल की हाकी देखने जाता था, और सहर्ष, सुविस्मय, सप्रशंस, सक्लैप और सनयन विस्तार देखता था। सुकुल की पार्टी-की पार्टी की चोटियाँ, स्टिक बनी हुई, प्रतिपद-गति की ताल-ताल पर, सर-सर से हाकी खेलते हैं। वली मुहम्मद कहता था, जब ये लोग हाकी में नाचते हैं, बी चोटियाँ सर पर ठेका लगाती हैं। फिलिप कहता था, **See, the Hunter of the East has caught the Hindoo's four--head in a noose of hair.** (देखो, पूरब के शिकारी ने हिंदुओं के सर को बालों के फंदे में फँसा लिया है।) इस तरह शिखा-विस्तार के साथ-साथ सुकुल का शिक्षा-विस्तार होता रहा। किसी से लड़ाई होने पर सुकुल चोटी की ग्रंथि खोलकर, बालों को पकड़ कर ऊपर उठाते हुए कहते थे, मैं चाणक्य के वंश का हूँ।

धीरे धीरे प्रवेशिका-परीक्षा के दिन आए। सुकुल की आँखें रक्त मुकुल हो रही थीं। एक लड़के ने कहा, सुकुल बहुत पढ़ता है; रात को खूँटी से बँधी हुई एक रस्सी से चोटी बाँध देता है, ऊँघने लगता है, तो झटका लगता है, जगकर फिर पढ़ने लगता है। चोटी की एक उपयोगिता मेरी समझ में आई।

मैं कवि हो चला था। फलतः पढ़ने की आवश्यकता न थी। प्रकृति की शोभा देखता था। कभी-कभी लड़कों को समझाता भी था कि इतनी बड़ी किताब सामने पड़ी है, लड़के पास होने के लिये सर के बल हो रहे हैं, वे उद्भिद्‌कोटि के हैं। लड़के अवाक दृष्टि से मुझे देखते रहते थे, मेरी बात का लोहा मानते हुए।

पर मेरा भाव बहुत दिनों तक नहीं रहा। जब आठ-दस रोज़ इम्तहान के रह गए, एक दिन जैसे नाड़ी छूटने लगी। खयाल आते ही कि फ़ेल हो जाऊँगा, प्रकृति में कहीं कविता न रह गई ; संसार के प्रिय-मुख विकृत हो गए; पिता जी की पवित्र-मूर्ति प्रेत की-जैसी भयंकर दिखी; माताजी की स्नेह की वर्षा में अविराम बिजली की कड़क सुनाई देने लगी, वंश-मर्यादा की रक्षा के लिये विवाह बचपन में हो गया था—नवीन प्रिया की अभिज्ञता की जगह वंकिम दृगों का वैमनस्य—हलाहल क्षिप्त होने लगा ; पुरजनों के प्रगाढ़ परिचय के बदले प्राणों को पार कर जाने वाली अवज्ञा मिलने लगी। इस समय एक दिन देखा, सुकुल के शीर्ण मुख पर अध्यवसाय की प्रसन्नता झलक रही है।

किताब उठाने पर और भय होता था, रख देने पर दूने दबाव से फेल हो जाने वाली चिंता। फलतः कल्पना में पृथ्वी-अंतरिक्ष पार करने लगा। कल्पना की वैसी उड़ान आज तक नहीं उड़ा। वह मसाला ही नहीं मिला। अंत में निश्चय किया, प्रवेशिका के द्वार तक जाऊँगा, धक्का न मारूँगा, सभ्य लड़के की तरह लौट आऊँगा। अस्तु सबके साथ गया। और-और लड़कों ने पूरी शक्ति लगाई थी, इसलिये, परीक्षा-फल के निकलने से पहले, तरह-तरह से हिसाब लगा कर अपने-अपने नंबर निकालते थे, मैं निश्चित

इसलिये निश्चिंत था; मैं जानता था कि गणित की नीरस कापी को पद्माकर के चुहचुहाते कवित्तों से मैंने सरस कर दिया है; फलतः, परीक्षा-समुद्र-तट से लौटते वक्त, दूसरे तो रिक्त-हस्त लौटे, मैं दो मुट्ठी बालू लेता आया; घर में पिता, माता, पत्नी, परिजन, पुरजन सबके लिये आवश्यकतानुसार उसका उपयोग किया।

मेरे अविचल कंठ से यह सुन कर कि सूबे में पहला स्थान मेरा होगा, अगर ईमानदारी से पर्चे देखे गए, लोग विचलित हो उठे। पिता जी तो गर्व से गर्दन उठाए रहने लगे। पर ज्यों-ज्यों फल के दिन निकट होते आए, मेरी आत्मा की वल्लरी सूखती गई। वह जगह मैंने नहीं रक्खी थी कि पिता जी एक साल के लिये माफ कर देते। घर छोड़े बगैर निस्तार न देख पड़ा। एक दिन माता जी से मैंने कहा—"जगतपुर के ज़मींदारों ने बारात में चलने के लिये बुलाया है, और ऐसा कहा है, जैसे मेरे गए बगैर बारात की शोभा न बन पड़ती हो।" जमींदारों के आमंत्रण से माता जी छलक उठीं; पिता जी को पुकार कर कहा—"सुनते हो, तुम्हारे सपूत जमींदारों के यहाँ उठने बैठने लगे हैं, बारात में चलने का न्योता है।" पिता जी प्रसन्नता को दबाकर बोले—"तो चला जाय; जो कहे, कपड़े बनवा दो और खर्चा दे दो।" एकांत में पत्नी जी मिलीं, बड़ी तत्परता से बोलीं—"वहाँ नाच देखकर भूल न जाइएगा।" "राम भजो", मैंने कहा—"क सूर्यप्रभवो वंशः क चाल्पविषया मतिः।" "मैं इसका मतलब भी समझूँ?" वह एक क़दम आगे बढ़कर बोलीं, मन में निश्चय कर कि तुलना में मैंने उन्हें श्रेष्ठ बतलाया है। समझकर मैंने कहा—"कहाँ तुम्हारी बाँस-सी कोमल दुबली देह से सूरज का प्रकाश,

कहाँ वह ज़हर की भरी मोती रंडी !" "चलो" कह कर वह गर्व-गुरु-गमन से काम को चल दीं।

समय पर कपड़े बने, और खर्चा भी मिला। पश्चात्, यथा-समय, जगतपुर के ज़मींदारों की बारात के लिये रवाना होकर कुछ दूर से राह काट कर ऐन गाड़ी के वक्त में स्टेशन पहुँचा। वहाँ से ससुराल का टिकट लिया। रास्ते-भर में खासी मुहर्रमी सूरत बना ली। ससुरालवाले देखते ही दंग हो गए। ससुरजी, सासुजी और लोग घेर कर कुशल पूछने लगे। मैंने उखड़ी आवाज़ में कहा—"गाँव में एक खेत के मामले में फ़ौजदारी हो गई है, दुश्मनों के कई घायल हुए हैं, इसलिये पिताजी की गिरफ्तारी हो गई है, गिरफ्तार होते वक्त उन्होंने कहा है, अपने ससुरजी के विवाह के क़रारवाले बाक़ी ५०० रुपये लेकर, दूसरे दिन जिले में आकर जमानत से छुड़ा लेना।" ससुरजी सन्न हो गए। सासुजी रोने लगीं, और और लोगों को काठ मार गया। ससुरजी के पास रुपए नहीं थे। पर सासुजी घबराईं कि ऐसे मौके पर मदद न की जायगी, तो त्रिपाठी जी क़ैद से छूटकर अपने लड़के की दूसरी शादी कर लेंगे। इस विचार से नथ, करधनी, पायजेब आदि कुछ गहने रेहन कर १५० रु० मुझे देती हुई बोलीं—"बच्चा, इससे ज्यादा नहीं हो सका; हम तो तुम्हारे सदा के ऋणी हैं; फिर धीरे-धीरे पूरा कर देंगे, त्रिपाठी से हाथ जोड़-कर हमारी प्रार्थना है।"

मैंने सांत्वना दी कि बाक़ी रुपए लेने मैं उनके घर कभी न जाऊँगा। एक विपत्ति की बात थी, वह इतने से टल जायगी। सासुजी मारे आनन्द के रोने लगीं। मैंने बड़ी भक्ति से

उनके चरण छुए और यथासमय स्टेशन आकर कलकत्ते का टिकट कटाया।

यहाँ मेरे नए जीवन की नींव पड़ी। अखबारों में देखा, सुकुल प्रथम श्रेणी में पास हुआ है। चार साल बाद वह बी० ए० हुआ, एम० ए० हुआ, मैं मालूम करता रहा, अच्छी जगह पाई, अब परीक्षा समाप्त कर परीक्षक है; मैं ज्यों-का-त्यों; एक बार धोखा खाकर बराबर धोखा खाता रहा; एक परीक्षा की तैयारी न करके कभी पास न हो सका।—कितनी परीक्षाएँ दीं।

तब से यह आज सुकुल से मेरी मुलाक़ात है। एक बार सारा इतिहास मेरे मस्तिष्क में चक्कर लगा गया। अब वह पिताजी नहीं, माताजी नहीं, पत्नी नहीं, केवल मैं हूँ, और परीक्षा-भूमि, सामने प्रश्नों की अगणित तरंग-माला !

( ३ )

मैं विचार में था। जब आँख खुली, साकार सुघरता मेरे सामने थी, अविचल दृष्टि से मुझे देखती हुई। अंजलि बाँधकर नमस्कार किया, ललित अँगरेजी में संवर्द्धित करते हुए—"Good morning, Poet of Vers Libre!" मैं उठा। नमस्कार कर सुकुल के नजदीकवाली कुर्सी पर बैठने के लिये बड़े अदब से हाथ बढ़ाकर बताया।

वह खड़ी थीं। लहराती हुई मंदगति से चलीं। बैठकर मुझे देखकर मुस्किराती हुई बोलीं, "आप खूब लिखते हैं ?"

प्यासा मृग मरीचिका के सरोवर का व्यंग्य नहीं समझता। मुझे यह पहली तारीफ मिली थी। इच्छा हुई, जाऊँ, महादेव

बाबू को भी बुला लाऊँ, कहूँ कि अब अमृत निकलने लगा है, चुल्लू बाँधकर चलिए। लेकिन अभी उतने अमृत से मुझे ही अघाव न हुआ था। बैठा हुआ एकांत भक्त की दृष्टि से देखता रहा।

रक्त अधरों के करारों से अमृत का निर्झर बहा, वह बोलीं—"सुकुल आपकी कविता नहीं समझते, मैं समझाती हूँ।"

सुकुल न रह सके। कहा—"ऐसा समझना वास्तव में कहीं नहीं देखा; असर भी क्या; चाहे कुछ न समझिए, पर सुनने से जी नहीं ऊबता। एम्० ए० क्लास तक किसी प्रोफेसर के लेक्चर में यह असर न था।"

"हाँ-हाँ जनाब", देवी जी मेरुमूल सीधा करके बोलीं—"यह एम० ए० क्लास से आगे की पढ़ाई है; जब पास करके आए थे, हाथ-भर की चोटी थी; समझ में एक वैसी ही मेख।"

सुकुल की चोटी मेरी निगाह में सुकुल से अधिक परिचित थी। पर उनके आने पर मैंने उन्हें ही देखा था। चोटी सही-सलामत है या नहीं, मालूम करने के लिये निगाह उठाई कि देवीजी बोलीं—"अब तो चाँद है। सुकुल को सुकुल बनाते, सच कहती हूँ, मुझे बड़ी मिहनत उठानी पड़ी है।"

उन्हें धन्यवाद दूँ, हिम्मत बाँध रहा था कि बोलीं—"मैं स्वयं सुकुल की सहधर्मिणी नहीं।"

मेरा रंग उड़ गया।

मुझे देखकर, मेरे ज्ञान पर हँसकर जैसे बोलीं—"सुकुल स्वयं मेरे सहधर्मी हैं।"

मैं साहित्यिका को तअज्जुब की निगाह से देखने लगा। इतने पर उनकी कृपा की दृष्टि मुझ पर पड़ी, बोलीं—

"मैं आपको भी सहधर्मी बनाना चाहता हूँ।"

मैं चौंका; सोचा, "क्या यह द्रौपदीवाला धर्म है?"

देवीजी ने कलाईवाली घड़ी देखी और उठकर खड़ी हो गईं। भौंहें चढ़ा कर बोलीं—"बहुत देर हो गई, चलिए, आपको लेने आई थी, टैक्सी खड़ी है।" फिर बढ़कर, मेरे कंधे पर हाथ रखकर बड़े ही मधुर स्वर से पूछा—"आप मुर्गी तो खाते हैं?"

मैंने सुकुल को देखा। सुकुल सिर्फ मुस्किराए। समझ कर मैंने कहा—"मेरा तो बहुत पहले से सिद्धान्त है।"

वह चलीं। मैं भी उसी तरह चद्दर ओढ़े सुकुल के पीछे चला।

( ४ )

रास्ते-भर तरह-तरह के विचार लड़ते रहे। समाज में इतनी आजादी नहीं। स्त्री के लिये तो बिलकुल नहीं। मुर्गी किसी तरह नहीं चल सकती। मैं खाता हूँ, छिपाकर। क्या यह स्त्री······ पर सुकुल तो सुकुल हैं।

सुकुल का घर आ गया। एक छोटा-सा दुमंजिला मकान। इधर-उधर बंगालियों की बस्ती। जगह-जगह कूड़े के ढेर, ऊपर मछलियों के सेल्हर, बदबू आती हुई।

हम लोग उतरे। भीतर पैठते दाहने हाथ एक छोटा-सा बैठका। एक डेढ़ साल के बच्चे को दासी खेलाती हुई। श्रीमती जी को देखकर बच्चा मा-मा करता हुआ उतावला हो गया; दोनों हाथ फैला कर मा के पास आने के लिये कूद कर दासी की गोद

में लटक रहा। लेकर देवीजी प्यार करने लगीं। सुकुल ने दासी को मकान खोलने के लिये कुँजी दी।

एक सहृदय बात कहना चाहिए, सोचकर मैंने कहा—"भूखा है, शायद दूध पीना चाहता है।"

देवीजी ने षोड़शी के कटाक्ष से देखा। कहा—"दासी पिला देगी।"

मैंने पूछा—"क्या यह आपका बच्चा नहीं है?"

हँसकर बोलीं "मेरा? है क्यों नहीं? पर दूध मेरे नहीं होता।"

मैंने निश्चय किया, शिक्षित महिला हैं, यौवन है, अभी मातृ-भाव नहीं आया, इसलिये दूध नहीं होता। मन में विधाता को धन्यवाद देता रहा।

"चलिए", वह बोलीं—"ऊपर चलें, एकांत में बातें होंगी, सुकुल बाजार जायँगे मुर्गी लेने।"

बच्चे को फिर दासी के हवाले कर दिया। मैं उनके पीछे चला, यह सोचता हुआ कि एकांत में सहधर्मी बनाने का प्रस्ताव न हो। चित्त को क़ाबू में न कर सका, वह पुलकित होता रहा।

यह कुछ सजा हुआ शयन-कक्ष था। "बैठिए" कहकर वह स्टोव जलाने लगीं। मैं आइने में उनकी पंप करती हुई तस्वीर देखता रहा।

( ५ )

चाय, पान और सिगरेट मेज पर लगा कर बैठीं। प्लेट पकड़ कर मेरा प्याला बढ़ाती हुई मधुर कंठ से बोलीं—"शौक कीजिए।"

विनम्र भाव से मैंने दूसरी ओर वाली बाट पकड़ी, और आँखों में ही उन्हें धन्यवाद दिया।

निगाह नीची कर मुस्किराती हुई उन्होंने अपना प्याला होठों से लगाया। आधी चाय चुक जाने पर पूछा—"आप मेरे सहधर्मी हैं तो?"

पेट में, उतनी ही चाय से, समंदर लहराने लगा। ऊपर तूफ़ान। श्याम तट पर भावों के कितने सजे सुदृढ़ मकान उड़ गए। ऐसी ख़ुशी हुई। कहा—"आप लेकिन सुकुल की······"

"बीबी हैं?—हाँ, हूँ।"

"फिर मैं······"

"कैसे बीबी बना सकता हूँ?"

ऐसा धर्म-संकट जीवन में कभी नहीं पड़ा। मेरा सारा समंदर सूख गया, तूफ़ान न-जाने कहाँ उड़ गया, सिर्फ़ रेगिस्तान रह गया, जो इस ताप से और तपने लगा।

मुझे चुपचाप बैठा अनमेल दृष्टि से देखता हुआ देखकर वह बोली—"आप बुरा न मानें, मैंने देखा है, मर्दों में एक पैदायशी नासमझी है; वह ख़ास तौर से खुलती है जब औरतों से वे बातचीत करते हैं।"

मान लेने में ही बचत मालूम दी। मैंने कहा—"जी हाँ, औरतों के सामने उनकी समझ काम नहीं करती।"

"हाँ" वह बोलीं—सुकुल को आदमी बनाती-बनाती मैं हार गई। "बीबी" को ही लीजिए। बीबी तो मैं सुकुल की भी हो सकती हूँ, हूँ ही, आपकी भी हो सकती हूँ।"

मैं सूख तो गया, पर प्रसन्नता फिर आई। मैंने बिना कुछ

सोचे एक उद्रेक में कह दिया—"हाँ।" "आप नहीं समझे", वह बोलीं—"आप साहित्यिक हैं तो क्या, फिर भी सुकुल के दोस्त हैं। बीबी की बहुत व्यापकता है।"

"जरूर", मैंने कहा।

उन्होंने कान न दिया। कहती गईं—

"छोटी बहन, भतीजी, लड़की, भयहू (छोटे भाई की स्त्री) सबके लिये बीबी शब्द आता है। आपकी 'हाँ' किस अर्थ के लिये है?"

मैंने डूबकर, कुछ कुल्ले पानी पीकर, जैसे थाह पाई। प्रसन्न होने की चेष्टा करते हुए कहा—"बहन के अर्थ में।"

उन्होंने कहा—"देखिए,—मर्द की बात एक होती है।"

इज्जत बचाने के लिये और जोर देकर मैंने कहा—"हाँ, मुकर जाऊँ, तो मर्द नहीं।"

लजाकर उन्होंने एक बार अपनी आँख बचाई। सँभल कर बोलीं—"हम बड़ी विपत्ति में हैं। साल भर से छिपे फिरते हैं। मैं बचने के लिये सुकुल से उनके मित्रों का परिचय पूछती रही। सिर्फ आपका परिचय मुझे त्राण देनेवाला मालूम दिया। पर पता न मालूम था। साल-भर से लगा रहे हैं।"

मैंने चितवन देखी। आँखें सजल हो आईं। कहा—

"मैं तैयार हूँ।"

वह उठकर खड़ी हुईं। सामने आ, हाथ पकड़ कर कहा—"भाई जी, मेरी रक्षा कीजिए। सुकुल का घर छुटा हुआ है, जिस तरह हो, मुझे अपने कुल में मिलाकर, सुकुल से ब्याह साबित कीजिए।"

उसकी बड़ी-बड़ी आँखें ; दो बूँद आँसू कपोलों से बह कर मेरी जाँघ पर टपके। मैं खड़ा हो गया, और अपनी चादर से उसके आँसू पोंछते हुए कहा—"तुम मेरे चाचा जी की लड़की, मेरी छोटी बहन हुईं। मेरे चाचा सस्त्रीक बंगाल में आकर गुजरे हैं। उनके एक कन्या भी थी, देश में आई थी।"

आनंद से भरकर, वह मेरा हाथ लेकर खेलने लगी। इसी समय सुकुल आए। पूछा—"रामकहानी हो गई ?"

मैंने कहा—"अभी नहीं, कहानी से पहले भूमिका समाप्त हुई है।"

"सुकुल" भरकर उसने कहा—"कोलंबस को किनारा दिखा।"

सुकुल बड़े प्रसन्न पद-क्षेप से मेरे पास आए ; पूछा—"चाय कुछ बची है ?"

"सब-की-सब" मैंने कहा—"पर ठंडी हो गई होगी, गरम करा लो।" बीबी की तरफ मुड़कर पूछा—"लेकिन तुम्हारा नाम अभी नहीं मालूम कर पाया।"

"जहाँ से आई हूं", उसने कहा—"वहाँ की पुखराज हूं, यहाँ की पुष्करकुमारी।"

"कुंवर" मैंने कहा—जल्दी करो, तुम्हारी मुर्गी स्वादिष्ट होगी, पर कहानी और स्वाददार हो। दोनों के लिये उतावली है।"

कुंअर चाय बनाने लगी। पंप करते समय सर की साड़ी सरक गई। फिर नहीं सँभाला। सुकुल की आँखें लोभी भौंरे की तरह उसके मुंह से लगी रहीं।

( ६ )

मैंने वहीं स्नान किया। सुकुल की धोती पहनी। भोजन

किया—बिलकुल मुसलमानी खाना। वैसी ही चपातियाँ, वैसा ही कोरमा। वही चटनी, वही मुरब्बा, वही मिठाई। खाते हुए पूछा—"कुँवर, हिंदू-भोजन भी पका लेती हो या नहीं ?" उसने 'हाँ' कहकर सुकुल की तरफ इशारा किया कि इनसे सीखा है।

"किताब छोड़कर खाना पकाते बड़ी परेशानी होती होगी तुम्हें।" मैंने कहा।

"सुकुल के लिये मैं सब कुछ सह सकती हूँ।" उसने जवाब दिया।

भोजन समाप्त हुआ। हम लोग उसी कमरे में गए। सुकुल बच्चे को लिए हुए।

पान खाते-खाते मैंने कहा—"अब देर न करो कुँवर।"

कुँवर एक बार नीचे गई। दासी से कुछ कह कर दुमंजिले का दरवाजा बंद कर आई, और अपनी कुर्सी पर बैठी।

मैंने कहा—"अब शुभस्य शीघ्रम् होना चाहिए।"

कुँवर बोली—"मेरी मा हिंदू हैं। लखनऊ के वाजपेयी खाले-वाले घर की। मैं उन्हीं से हूँ।"

"तब तो तुम कुलीन हो"—मैंने कहा, "तुम्हारे पिता का नाम ?"

"उसका नाम कौन ले", कुँवर बोली—"आपके चाचा जी मेरे पिता हैं।"

कुँवर भर गई। रुक कर सँभलने लगी। बोली—"वाजपेयी जी को एक ब्याह से संतोष नहीं हुआ। दूसरी शादी की। तब मैं पेट में थी। बेहटा मेरा ननिहाल है। सिर्फ नानी थीं। ईश्वर

की इच्छा, उनका देहांत हो गया। तब मेरी मा ने ससुर को कई चिट्ठियाँ लिखवाईं। पर उन्होंने खबर न ली। घर में किसी तरह गुज़र न हुई, तब, लोटा-थाली बेचकर, उस ख़र्च से मा लखनऊ गईं। घर में पैर रखते, ससुर और पति ने तेवर बदले। पति ने कहा, इसके हमल है, हमारा नहीं। ससुर ने कहा, बदचलन है, धरम बिगाड़ने आई है; भली होती, तो चली न आती—वहीं के लोग परवरिश करते। पड़ोसियों की भी राय थी। सौत ने धरती उठा ली। एक रात को पति ने बाँह पकड़ कर निकाल दिया। मा रास्तों पर मारी-मारी फिरीं। सुबह जिस आदमी ने उनके आँसू देखे, वह मुसलमान था। उस वक्त मा के दिल में हिंदू, धर्म और भगवान के लिये कितनी जगह थी, आप सोच सकते हैं। निस्सहाय, अंतःसत्त्वा, अबला केवल आश्रय चाहती थी, सहानुभूतिपूर्ण, मनुष्यता-युक्त; वह एक मुसलमान से प्राप्त हुआ। मुसलमान की बातों में विधर्मीपन न था। एक स्त्री के प्रति पुरुष का जैसा चाहिए, वैसा आश्वासन, विश्वास और पौरुष था। मा आकृष्ट हुईं। वह माँ को ले चला। आगे वह, पीछे मा। मा फूल के कड़े-छड़े, धोती पहने हुए, मुसलमान के पीछे चलती साफ हिंदू-महिला मालूम दे रही थीं। ऐसे वक्त एक आर्यसमाजी की निगाह पड़ी। उसने पीछा किया। मुसलमान बढ़ता हुआ घर पहुँचा। पर उसे हिंदू का पीछा करना मालूम हो गया था, इसलिये डरा। घर देखकर वह आर्यसमाजी पुलिस को ख़बर देने गया। इधर मुसलमान ने भी पेशबंदी शुरू की। एक दूसरे मुसलमान दोस्त के ताँगे में परदा लगा कर मा को दूसरे मुसलमान के घर कर आया। पुलिस की तहक़ीक़ात जारी हुई, साथ

साथ मा का एक मुसलमान के घर से दूसरे मुसलमान के घर होना। अंत में वह एक ऐसे घर पहुँचीं, जो एक इंस्पेक्टर, पुलिस का था। इंस्पेक्टर साहब छुट्टी लेकर उस वक्त रह रहे थे। नौकरी पर चलते समय वह मा को भी साथ लेते गए। अकेले थे। मा सुंदरी थीं।"

इच्छा हुई इंस्पेक्टर साहब का नाम पूछूँ, पर सोचा, वाजपेयी जी के नाम के साथ बाद को मालूम कर लूँगा।

कुँवर कहती गई—"इस तरह इंस्पेक्टर साहब ने एक अबला की रक्षा की। मैं पैदा हुई। मेरे कई भाई-बहन और हुए। मैं उर्दू पढ़ती थी; मुसलमान पिताजी का लखनऊ तबादला होने पर, अँगरेज़ी पढ़ने लगी। नाइंथ क्लास में थी, मा से पिताजी की बातचीत हुई, मेरी शादी के बारे में। मैं कमरे के बाहर खड़ी थी। उन्हें मालूम न था। उस रोज़ मुझे कुछ आभास मिला। पहले मा को नाराज होने पर जिन शब्दों में अभिहित करते थे, उनकी सचाई समझी। मेरी आँख खुली। बड़ी लज्जा लगी, हिंदू-मुसलमान इन दोनों शब्दों पर किसी की तरफ़दारी के लिये। एक रोज़ मा को रोककर मैंने पकड़ा। जो कुछ सुना और समझा था, कहा, और बाक़ी ब्यौरा समझाने के लिये विनय की। एकांत में मा ने अपना सारा हाल सुनाया, और ईश्वर का स्मरण कर, उनकी इच्छा कहकर ख़ामोश हो गईं। मुझे जातीय गर्व से घृणा हो गई। मैंने कहा, मैं शादी नहीं करूँगी; जी भर पढ़ना चाहती हूँ। बस, यहीं से मेरे विचार बदले। मैट्रीक्युलेशन पढ़ कर मैं आई० टी० कालेज गई, और दूसरे विषयों के साथ हिंदी

ली। एफ० ए० पास हो बी० ए० में गई। आखिरी साल सुकुल को देखा।"

"सुकुल को देखा" कहने के साथ कुँवर का जैसे नेह का स्रोत फूट पड़ा। कुछ रस-पान कर मैंने कहा—"कुँवर, यहाँ अच्छी तरह वर्णन करो; हिंदी के कहानी-लेखक और पाठक बहुत प्यासे हैं।"

कुंवर जम कर सीधी हुई। बोली—"सुकुल तब क्रिश्चियन कॉलेज में प्रोफेसर थे। प्रिंसिपल को आश्वासन दिया था कि ईसाई-धर्म को वह संसार का सर्वश्रेष्ठ धर्म मानते हैं, लेकिन बूढ़े पिताजी का लिहाज़ है, और वह दो-चार साल में चलते हैं, बाद को सुकुल क्रिश्चियन के अलावा दूसरा अस्तित्व नहीं रखते। कुछ निबंध भी प्रमाण के तौर पर लिखे। दूरदर्शी प्रिंसिपल ने तब सिफ़ारिश की, और इन्हें जगह मिली। मेरे मकान के सामने ठहरे थे। बड़ी सँभाल से हैट लगाते थे कि चोटी कहीं से न दीख पड़े, पगड़ी के भीतर विभीषण के तिलक की तरह। कभी मिसेज सुकुल आती थीं, कभी अकेले ठोंकते खाते थे। मुझे इतना जानते थे कि इस मकान से कोई कॉलेज जाती है। एक दिन की बात। मैं छत पर थी। शाम हो रही थी। सुकुल बरामदे में बैठे थे। मौसम बरसात का। बादल मदन की बैजयंती बने हुए। ठंडी हवा चल रही थी। पेड़-पौधे लोट-पोट। क्या कहूँ, मैं भी ऐसी हवा से लहराई। बहुत पहले, कुछ ईंटें बाहर देखने के लिये जमा कर रक्खी थीं। उन पर खड़ी हो गई। अवरोध के पार सर उठाकर देखा। सुकुल बैठे थे। कई बार पहले भी देख चुकी थी। सुकुल ने न देखा था। अब के निगाह एक हो ही गई। सुकुल की जनरल की मूँछें—बाघ का मुँह—कालिदास की

आँखें !—माफ कीजिएगा, मैं बकरे को कालिदास कहती हूँ।—टकटकी बँध गई। मुझे किसी ने जैसे गुदगुदा दिया। इतनी बिजली भर गई कि मैंने फ़ौरन सुकुल को फ़ौजी सलामी दी। होश में आ, लजा कर बैठ गई। फिर कई दिन आँखें नहीं मिलाईं, छिप-छिप कर देखती रही, सुकुल दूसरों की नज़र बचाते कितने बेचैन थे! मुझे लुत्फ़ आने लगा, शिकार की तड़फड़ाहट से शिकारी को जो खुशी होती है। बराम्दे में सुबह-शाम बैठना सुकुल का काम हो गया। कहीं न जाते थे। इधर-उधर देखकर निगाह उसी जगह जमा देते थे। जगह खाली देखकर आह भरते थे। मैं दीवार के छेद से देखती थी। एक रोज़ फिर उसी तरह दर्शन देने की इच्छा हुई। ईंटें बिखेर देती थी। इकट्ठी कीं। खड़ी हुई। सूरज मुँह के सामने था। सुकुल ने देखते ही हाथ जोड़ कर प्रणाम किया। मैं काग़ज़ का एक टुकड़ा ले गई थी। उसकी गोली बना कर उसे नीचे डाल दिया। उसपर सुकुल की जैसी निगाह थी, वैसी नादिरशाह की कोहनूर पर न रही होगी, न अँगरेज़ों की अवध पर।"

मारे आकर्षण के मुझसे न रहा गया। पूछा—"क्या लिखा था?"

"कुछ नहीं," कुँवर बोली—"वह कोहनूर की तरह सफेद था। सुकुल ने उसे उठा कर बड़े चाव से खोला। और, यद्यपि उसमें कुछ न लिखा था, फिर भी कुछ लिखा होता, तो सुकुल को इतनी सरसता न मिली होती।—उस शून्य पृष्ठ पर विश्व की समस्त प्रेमिकाओं की कविता लिखी थी। सुकुल उसे लेकर बराम्दे में आए, और मुझे दिखाकर हृदय से लगा लिया। मैं मुस्किराकर

बिदा हुई। इस ख़ाली के बाद भरी दाग़ने लगी। रोज़ एक गोली चलाती थी, बिहारी, देव, पद्माकर, मतिराम आदि के दोहे और कवित्त लिख-लिख कर। अंत में सुकुल का क़िला ताड़ लिया। एक दिन एक गोली में दाग़कर कि तुम्हारे घर आऊँगी—रात भर दरवाज़ा खुला रखना, गई, और क़िले पर अधिकार कर समझा दिया कि इम्तहान के बाद स्थायी रूप से यहाँ आकर निवास करूँगी। सुकुल अपनी भूलों का बयान करते रहे—कब क्या करते, क्या हो गया। पर मैंने कोई भूल की ही नहीं थी। मिसेज़ सुकुल से शादी करके सुकुल के पिता जी ने, मुमकिन है, भूल की हो। मैंने यह ज़रूर सोचा कि मेरे कारण सुकुल की मुसीबतें बढ़ सकती हैं, पर साथ ही यह ख़याल आया कि कोई पहलू उठाइए, सामने मुसीबत है—अब क़दम पीछे नहीं पड़ सकता। जहाँ सुकुल हर चाल पर चूकते थे, वहाँ मैंने पहले ही मात दी—इम्तहान में बैठी, और सुकुल के घर आकर मालूम किया, पास हुई, और रायबहादुर बन्नूलाल-हिंदी-मेडल पाया। और फिर डिगरी लेने नहीं गई। इम्तहान के बाद, जब एक रात को हमेशा के लिये सुकुल के घर आकर बैठी, बड़ा तहलक़ा मचा, कुछ ढूँढ़-तलाश के बाद जब मैं नहीं मिली। निश्चय हुआ कि मेरी मर्ज़ी से किसीने मुझे भगाया। सुकुल पर शक हुआ। थाने में रिपोर्ट हुई। सुकुल मुझे कहाँ रक्खें—घबराए। दीवार से बनी एक आलमारी थी। आलमारी के नीचे एक तहख़ाना छोटा-सा था। मैं अब जैसी हूँ, तब इससे और दुबली थी।—जगन्नाथ जी में, कुछ महीने हुए, कलियुग की मूर्ति देखी—कंधे पर बीबी को बैठाले मियाँ लड़के की ऊँगली पकड़े बाप को धतकार रहे हैं, मेरी इच्छा हुई, सुकुल

कलियुग बनें। सुकुल को कई दफ़े कलियुग बना चुकी हूँ। धतकारने के लिये, कहती थी, सामने समझो हिंदूपनरूपी तुम्हारा बाप है। सुकुल धतकारते थे। गरज़ यह कि उस तहख़ाने में मैं आसानी से आ सकती थी। सुकुल से मैंने कहा, ऊपर कुछ कपड़े डाल दो, साँस लेने की जगह मैं कर लूँगी। आलमारी के ऊपर वाले ताकों में चीजें पहले से रक्खी थीं। बाहर से आलमारी बंद कराके ताला लगवा देती थी। इस तरह दो-दो तीन-तीन, चार-चार घंटे दम साधने लगी। जब सुकुल कॉलेज जाते थे, तब बाहर दरवाज़ा बंद कर लेते थे। जब लौटते थे, तब भीतर दरवाजा बंद कर लेते थे। कोई पुकारता था, तो मैं तहख़ाने में जाती थी, आलमारी का ताला बंद करके सुकुल बाहर निकलते थे। तीसरे दिन सही-सही पुलिस आ गई। सुकुल उसी तरह बाहर निकले। प्रभातकाल था, बल्कि उषःकाल। दारोग़ा मुसलमान। डटकर तलाशी लेने लगा। आलमारी के पास आकर खड़ा हुआ। मैं समझ गई, यह साँस की आहट ले रहा है। मैं मुंह से साँस लेने लगी। फिर आलमारी नहीं खोलवाई। दराज से देख-दाख कर चला गया। सुकुल उसे बिदा कर उसी तरह भीतर आए। मुझे निकाला। मैं खिलखिला कर हँसी। फिर सुकुल से जल्द मकान बदलने के लिये कहा। तलाशी की ख़बर चारों तरफ़ फैली। सुकुल के गाँव भी पहुँची। अब तक सुकुल ने भी तलाशी का हाल लिखा, पर मकान बदल कर। यह मकान बड़ा था। बग़ल-बग़ल दो आँगन थे। मेरा ख़याल रख कर लिया गया था। चिट्ठी पा सुकुल के भाई मिसेज़ सुकुल को लेकर आए। हम पहले से सतर्क थे। बड़े मकान में सुकुल रहने लगे। मैं अपना

गुप्त जीवन व्यतीत करती रही। मुझे कोई कष्ट न था; पर सुकुल की ड्यूटी बढ़ गई। सौभाग्य कहूँ या दुर्भाग्य, ३-४ महीने रहकर मिसेज़ सुकुल बीमार पड़ीं, और ७-८ दिन के बुखार में उनका इन्तकाल हो गया। सुकुल के भाई चले गए थे। इन्होंने फिर किसी को नहीं बुलाया। किसी तरह मित्रों की मदद से उनका अंतिम संस्कार कर दिया। सुकुल से पूछ कर मैं तुम्हारा हाल मालूम कर चुकी थी; जानती थी, मुझे ही अपनी नाव खेनी है; पर तुम्हारा पता मालूम न कर सकी, इतनी ही चिंता रह-रहकर होती थी। मिसेज़ सुकुल के रहते मैंने मिस्टर सुकुल को तुम्हारे गाँव भेजा था। तुम्हीं-जैसे मेरे सहारा हो सकते थे। मिसेज़ सुकुल के रहने पर मुझे कोई अड़चन न थी, न अब न रहने पर, कोई सुविधा है। यह बच्चा मिसेज़ सुकुल का है। बड़ी कठिनाइयों से तुम्हारा पता लगा था। मिसेज़ सुकुल के गुज़रने पर हम लोगों को विवश होकर लापता होना पड़ा। पास इतना धन था कि साल-डेढ़ साल का ख़र्च चल जाय। इतने दिनों बाद हमारी साधना सफल हुई।"

मैंने कुँवर को धन्यवाद दिया। कलकत्ते में ही उसका ब्याह कर दूँगा, यह आश्वासन देकर उससे बिदा ली।

( ७ )

सेठजी बैठे थे। एकांत में ले जाकर यह हाल उनसे कहा। वह सहमत हो गए। कहा, मगर मुंशीजी से 'न कहिएगा, उनके पेट में बात नहीं रहती।'

शुभ मुहूर्त में विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। एक दिन

आमंत्रित हिंदी-भाषी विभिन्न प्रांतों के साहित्यिकों की उपस्थिति में सुकुल के साथ श्रीपुष्करकुमारी का ब्याह कर दिया।

प्रीति-भोज में अनेक कनवजिए सम्मिलित थे। देश में यह शुभ संदेश सुकुल के पहुँचने से पहले पहुँचा। कुँवर अब भी हैं।

---

# अर्थ

पंजाबमेल पूरी रफ्तार से कलकत्ता जा रहा है। दूसरे दर्जे में दो मुसाफ़िर पास-पास बैठे हैं। कुछ देर मौन रहकर एक ने दूसरे से नाम पूछा, जब वह प्रयाग में गाड़ी पर चढ़ा। उसने कहा—"मेरा नाम दिनेशकुमार है।" थोड़ी देर में घनिष्ठता बढ़ गई। पहला मुसाफ़िर हीरालाल कलकत्ता लौट रहा है। वहाँ व्यवसाय करता है। नवयुवक है, धनी व्यवसायी का लड़का, दिल्ली गया था। दिनेश भी नवयुवक है। हीरालाल को मालूम हुआ कि एक अच्छी जगह सिनेमा में कहानी लिखने की दिनेश को मिली है, इसलिये कलकत्ता जा रहा है। हीरालाल खुद भी हिंदी के कथानक, उपन्यास तथा नाटक-सिनेमा-साहित्य का शौक़ीन है, कुछ ज्ञान भी इधर उसने अर्जित कर लिया है। पूछा—"हिंदी के उपन्यास-लेखक रामकुमारजी को आप जानते हैं?"

"हाँ, वह तो आजकल प्रयाग ही रहते हैं।" दिनेश ने कहा।

"मेरे विचार से उनके जो उपन्यास निकले हैं, उनकी जोड़ के हिंदी में दूसरे नहीं, आप क्या कहते हैं?"

"मेरा भी यही विचार है।"

"उनका एक जीवन-चरित इधर 'भारती' में प्रकाशित हुआ है, वह बड़ा अद्भुत है। उसमें एक ईश्वरीय सत्य है। आप कहें, तो सुनाऊँ।"

"सुनाइए।"

हीरालाल कहने लगा—"रामकुमार एक कुलीन ब्राह्मण के घर का बालक ही था, जब घर की पूजार्चा देखकर, पाठ सुनकर हिंदू-धर्म पर उसे पूरा विश्वास हो गया। जैसा सुना, वैसी ही धारणा बँध गई कि अगर आज अकेले भीम होते, तो म्लेच्छों के पैर क्षण-भर के लिये भी उनके सामने न ठहरते। जहाँ गदा को घुमाने पर भगदत्त के हाथी सेमर की रुई की तरह आकाश में उड़ गए, कुछ तो अब भी चक्कर काट रहे हैं, वहाँ म्लेच्छों का पता न रहता कि किस लोक में, अँधेरे की तरह प्रकाश में कहाँ, ग़ायब हो गए। अगर कहीं महावीर स्वामी आ जाते—आ क्या जायँ, अब उनके समकक्ष योद्धा कोई रह ही नहीं गया, द्वापर में इसीलिये वह लड़े नहीं, तो वह अमर हैं, कहीं गए थोड़े ही हैं! और उखाड़ उखाड़ कर पटकते पहाड़, तो सारी अक्ल हवा हो जाती तुर्कमखानों की। इस तरह श्रीराम और कृष्णजी को सोचता हुआ आजकल के रावण के सशस्त्र सेना को वानर-मात्र की सहायता से परास्त कर देता, कभी कृष्णजी से असंभव कार्य-रूप गोवर्धन धारण करा, उसके नीचे देश के भगवद्भक्त गोप-गोपियों को आश्रय देकर वर्तमान इंद्र की दुश्शासन वर्षा से उद्धार कर लेता, कभी किसी राक्षस-रूप में कृष्ण को घुसेड़कर पेट चिरवाता बाहर निकालता। इस तरह बंदर को आदमी और आदमी को बंदर बनाने की आदत पड़ गई। करुणा तुलसी-कृत

रामायण और सूरसागर के दैनिक पाठ से बढ़ती गई। नवें दर्जे में था, इसी समय भक्ति के आवेश में सूझा, म्लेच्छों की विद्या न पढ़ूँगा, यह धन के लिये है, ज्ञान के लिये नहीं। इस समय यह पंद्रह साल का बालक था। घरवालों का शासन प्रबल था, इसलिये स्कूल जाना पड़ा। पर वह रह-रहकर सोचता था कि उसके घर-वाले ढोंगी हैं; बाहर से तो भगवान का नाम लेते हैं, पर भीतर से रुपया ही उनका लक्ष्य है। घरवालों से उसे घृणा हो गई। धीरे-धीरे दो साल का समय और बीता, और इसने प्रवेशिका-परीक्षा पास कर ली। इसी समय पिता ने उसका विवाह किया। बहू युवती थी। बहू के घर आने पर रामकुमार ज्यों ज्यों क्षीण हो चला, उसकी ईश्वर-भक्ति और आस्तिकता त्यों-त्यों प्रवीण होने लगी। पति ही पत्नी का ईश्वर है, यह संस्कार यद्यपि घर से पत्नी को प्राप्त हो चुका था, फिर भी रामकुमार ने अपनी ओर से शिक्षा देने की गफ़लत न की। फलतः वह गंभीर होने लगा, और उसकी धार्मिक साधना भी बहू को प्रभावित करने के लिये बढ़ गई। बहू सुंदरी थी। पत्नी को पूर्ण मादकता से प्यार देना धर्म में दाख़िल है। अतः इधर भी रामकुमार संसार की भावनाओं को स्वर्ग में बदल-बदलकर विहार करने लगा। पिता ने कॉलेज जाने के लिये कई बार कहा। वह वृद्ध हो गए थे। शारीरिक शासन करने में असमर्थ थे। रामकुमार ने पिता के शब्दों पर ध्यान न दिया। पत्नी ने भी श्वशुर के आदेश की एक बार पुनरावृत्ति की, क्योंकि उसे भय था कि पति के कॉलेज न जाने का कारण वही समझी जायगी। रामकुमार ने कहा—"अँगरेज़ी शिक्षा से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।"

"तब तक रामकुमार को अर्थ की चिंता न थी। पिता को पेंशन मिलती थी, संसार-चक्र मज़े में चला जा रहा था। उसकी माता का कुछ दिन बाद देहांत हो गया। एक साल का क्रिया-कर्म भी पूरा हुआ। पिता ने कहा—'बेटा, हम करारे के रुख हैं, तुमने पढ़ा नहीं, तो हमारे रहते कोई काम ही कर लो; नहीं तो पीछे तुम्हें कष्ट होगा।' रामकुमार गंभीर होकर बोला—'आप इसकी चिंता न करें।' मन-ही-मन कहा कितना अविश्वास इन्हें ईश्वर पर है—'पशु-पक्षिउ की लेत खबरिया, तोरिउ सुरति करै; अरे मन धीरज क्यों न धरे!' रामकुमार को बालक-काल से संतों की उक्तियों पर दृढ़ विश्वास करने की आदत पड़ गई थी। गोस्वामीजी की चौपाई याद आई—'विश्व-भरण-पोषण कर जोई, ताकर नाम भरत अस होई।' जो भरत संसार का पालन करते हैं, वह भोजन न देंगे, उन पर कितना अविश्वास है इन लोगों को! सोचता हुआ वह चला जाता, पिता खिन्न हो जाते।

"कुछ समय और पार हुआ, एक रोज़ पिता को कुछ बुखार आया, दो-तीन दिन बाद उनका दम निकल गया। आज पहला दिन था, जब गाँव के लोगों से रामकुमार को एक गृहस्थ की तरह दीन होकर, धार्मिक उद्दंडता छोड़कर, बर्ताव करना पड़ा। पहला बुलावा गया, और लाश उठाकर गंगाजी चलने के लिये कोई न आया, तब नाई ने समझाया कि भैया, यह हाथ जोड़ने का समय है। रामकुमार जाकर घर घर हाथ जोड़ता फिरा। लोगों ने सलाह करके कहा, 'रामचंद्र शुक्ल मरे थे, तब लोगों को १५) के पेड़े उनके लड़के ने खिलाए थे; कहो १५) के पेड़े खिलाओगे? तो चलें अपने गरोह के बीस आदमी।' रामकुमार को स्वीकार

करना पड़ा। घाट से लौटने पर तेरहीं तक बड़ी विपत्ति रही। कुटुंबों का व्यवहार ख़ासे दुश्मनों का-सा रहा। एक की जगह तीन-तीन लेकर टले। माता का भी क्रिया-कर्म उसीने किया था। पर तब पिता थे, इसलिये संसार का बर्ताव नहीं समझ सका। तेरहीं के बाद उसकी पत्नी विद्या ने कहा, नक़द आठ सौ रुपए थे, सब ख़र्च हो गए। धर्म के दबाव से पत्नी ने यह न कहा कि कोई काम देखो, नहीं तो इस तरह और कब तक चलेगा। रामकुमार ने कहा, अच्छी बात है, ख़र्च होने दो, मुझे धन के मालिक का पता मालूम है।

"कुछ समय और बीता, रामकुमार की पूजा बढ़ चली। गाँववाले आपस में बतलाने लगे, "कैसा बेवकूफ़ है, पढ़ा-लिखा है, कहीं नौकरी या रोजगार नहीं करता, रामायण लिए चार-चार घंटे मंदिर में बड़बड़ाया करता है। 'इसके जवाब में कोई कहता है, बाप की कमाई का रुपया गाँजा है, हमारी-तुम्हारी तरह नदार है? कराया तो तुमने तेरहीं में मनमाना ख़र्च, फिर रुका? नहीं जाता नौकरी करने। जब माल होता है, तब भगवान का नाम सूझता ही है, आख़िर बैठा-बैठा क्या करे? अब आगे वर्षों में कराओ ख़र्च दो हज़ार, देख लो, कभी जो हाथ खींचे।' इधर एक रोज़ ऐसा हो गया कि विद्या के हाथ में एक पैसा भी न रहा। उसने पति से कहा कि आज से अब एक पैसा भी ख़र्च के लिये नहीं है।

"युवक रामकुमार गंभीर हो कर बोला, 'अच्छी बात है, आज पैसा हो जायगा।' जैसा उसने पढ़ रक्खा था कि भरतजी का नाम जपने पर अर्थ होता है, शाम होने पर एक कोठरी में बैठकर

भरतजी का नाम जपने लगा। रात ग्यारह बजे तक पाँच हजार जप पूरा कर, वहीं एक चुटके में यह लिखकर कि मेरे इस जप की जो मजदूरी होती हो, यहीं अँगोछे पर रख दीजिए, उठकर पत्नी के पास आया। इधर विद्या भी चूल्हे के पास भोजन तैयार कर बैठी हुई पति के लिये तपस्या कर रही थी। गंभीर भाव से भोजन कर रामकुमार बाहर आया, तब विद्या ने भी भोजन किया। मारे डर के उसने कारण न पूछा। प्रेम से उच्छ्वासित हो, गंभीर भाव से, पलंग पर पड़े-पड़े पति ने स्वयं पत्नी से अपने अर्थोपगम का मंत्र बतलाया। विद्या मुँह फेर कर हँसने लगी।

"सुबह उठकर रामकुमार नहाया, फिर भक्ति-भाव से उस कोठरी में गया। विद्या मुस्किराती हुई बाहर से झाँकने लगी। रामकुमार ने देखा, भीतर अँगोछा जिस तरह फैलाया था, उसी तरह फैला है; भरतजी पाँच हजार नाम-जप की मजदूरी उस पर नहीं रख गए। हृदय को बड़ा दुःख हुआ। मारे लज्जा से पत्नी से आँखें न मिला सका। विद्या बड़े कष्ट से हँसी रोके हुई थी। सांत्वना की बातें हँस डालने के भय से नहीं कह रही थी। इसी समय छक्कन साह ने द्वार पर आकर पुकारा। छक्कन पहले बचका लादते थे। अब रुपया क़र्ज़ दिया करते हैं। रामकुमार द्वार पर गया, तो छक्कन ने पालागन करके कुशल पूछी। अनुभवी छक्कन पड़ोस के दूसरे गाँव में रहते हैं। आलसी, अकर्मण्य आजकल के बाबू युवकों की नस-नस से वाक़िफ़ हो चुके, उन्हें थोड़े रुपए देकर काफ़ी रक़म—सोने-चाँदी के गहने ले चुके हैं। रामकुमार के पिता का देहांत हो चुका है, पेंशन बंद हो गई है, जवान लड़का बहू के रूप में फँसकर बाहर पैर नहीं निकालता,

हैसियत इतनी अच्छी नहीं कि इसी तरह हमेशा निभे, कहीं बीच में रुपयों की जरूरत हुई, तो ऐसा न हो कि दूसरे के हाथ शिकार फँस जाय, यह सब सोचकर छक्कनसाह घर से चले थे। सरल रामकुमार ने पहले ही कहा, पिताजी की तेरहीं में रहा-सहा रुपया खर्च हो गया है, अब तो बड़ी दिक्कत में हैं। छक्कन का श्रम सफल हुआ। बड़ी हमदर्दी से बोले, तो डर किस बात का है? आप तो घर के लड़के हैं। जैसे यह घर आपका, वैसे वह घर भी आपका। आपका खर्च न रुकेगा, रुपयों का इन्तजाम कर दिया जायगा। रामकुमार के विचार से साक्षात् भरत जी आ गए। बोला, 'रुपए तो अभी मुझे चाहिए।' छक्कन समझ गए कि यह बेवकूफ है, यह मुझसे उसी तरह रुपये लिया चाहता है, जैसे अपने बाप से लेता था। बोले, 'तो कितने रुपए अभी आपको चाहिए?' "दो सौ।" छक्कन ने कहा, 'हमारे पास होते तो हम दे देते; हमें दूसरे से लेकर देना है, और वह बग़ैर कुछ रेहन रक्खे रुपया न देगा। अगर आप कहें, तो हम अपने यहाँ से २० तोले की जंजीर सोने की रेहन करके रुपए ले आवें। आप सोलह तोले भी हमारे यहाँ सोना ले आवें, तो पिछले पहर तक दो सौ रुपए ले जा सकते हैं। दूसरे के पास जायँगे, तो २) रुपया सैकड़ा ब्याज से कम न देगा, हम १) ही रुपया लेंगे।' इसके सिवा कोई चारा न था। रामकुमार ने रुपयों का इंतज़ाम कर रखने के लिये कह दिया। उधर छक्कन घर गए, इधर यह पत्नी के पास आया। बड़ी लाज लगी, पर उपाय न था, विद्या से कहा, अपनी जंजीर दे दो, तो पिछले पहर रुपए ले आऊँ। अम्लान विद्या ने बॉक्स खोलकर ज़ंजीर निकाल ली; फिर पति को देखती हुई, उसे

ही हर तरह पाने की प्रार्थना से हाथ पर रख दी। रामकुमार जंजीर लिये पड़ा रहा। चौका-टहल कर, पानी भरकर, चलती हुई महरी ने पूछा, 'आज अभी तक भैया पड़े हैं, गाँव के लोग कहते हैं, आज सुबह छक्कन साह आए थे, जान पड़ता है, दिवाला छ ही महीने में निकल गया, क्या बात है बहू ?' 'बात क्या है ? तुम अपना काम करो, कहने के लिये दुनिया है, किसी की जीभ में ताला पड़ा है ?' भोजन पकाकर पति को समझाती हुई कि तुम्हारी जैसी इच्छा हो करो—फिर हम दोनों एक साथ भीख माँगेंगे; पर अब मैं भी तुम्हें कहीं न जाने दूँगी, मेरे चार हज़ार के गहने हैं, तुम सब बेच डालो। रामकुमार को आज कार्यतः पहले पहल प्रिया के अपार प्रेम का परिचय मिला। उठकर नहाया, भोजन किया, शाम को ३० तोले की जंजीर के बदले दो सौ रुपए लेकर घर लौटा।

'हृदय को बड़ी चोट पहुँची। जो राम पृथ्वी के ईश्वर हैं, जो भरत सृष्टि-भर को भोजन देते हैं, उन्होंने स्वयं अपने भक्त की लाज ले ली, अब मैं किस विश्वास पर उन्हें पुकारूँ ? वे मेरे किस काम आएँगे ?' सोचते-सोचते मस्तिष्क में गरमी छा गयी। प्यार की जगह चोट खाकर मनुष्य मुश्किल से सुधरता है। इसी समय याद आई, 'भगवान चित्रकूट में हैं। तुलसीदासजी को वहीं उनके दर्शन हुए थे।' कागज लेकर उनके नाम चिट्ठी लिखने लगा। लिखा।

प्रभो,

मुझे तुम्हारा बड़ा भरोसा था। मेरी नाव अब मझधार में है। पर तुम्हारी कृपा तो मुझे नहीं नज़र आती। अब तुम्हारे

सिवा संसार में मेरी मदद करने वाला कोई नहीं है। मेरे पिता का भी सहारा तुमने छुड़ा दिया। अब तो दया करो। तुमने सुग्रीव और विभीषण को राजा बना दिया, तो मेरी कुछ तो खबर करो प्रभो, मैंने तुम्हीं को संसार में माना है, और आज तुम्हारी ओर से मुँह फेरते हुए छाती दो टूक हुई जा रही है। प्रभो, दास पर दया करो, वह बड़े दुःख में है। रामायण में भक्त-शिरोमणि तुलसीदासजी ने लिखा है—

जो संपति शिव रावणहिं दीन दिए दस माथ ;
सोइ संपदा विभीषणहिं सकुचि दीन रघुनाथ।

क्या यह सब झूठ ही है? रघुनाथ, विश्वास जो नहीं होता? अधिक और क्या लिखूँ? तुम तो हृदय हृदय का हाल जानते हो, स्वामिन्!

तुम्हारा दास—
रामकुमार

"ऊपर लिफ़ाफ़े में, श्रीरामचंद्रसिंह, रामघाट, चित्रकूट, सीतापुर, बाँदा लिखकर चिट्ठी डाकख़ाने में छोड़ दी। एक चित्त से प्रभु के उत्तर की राह देखता रहा। चिंता से दुर्बल हो गया। एक दिन चिट्ठीरसा वही चिट्ठी वापस ले आया। चिट्ठी देखकर रामकुमार अर्द्ध-विक्षिप्त हो गया।

"धीरे-धीरे वर्षा का समय आ गया। लोग स्वयं उसे बुलाकर सलाह देने लगे कि कुल कमाई तुम्हारे पिता की है, ऐसा न हो कि स्वर्ग में उन्हें संकोच हो। लोग इस प्रसंग पर रामकुमार को काफ़ी आदर देते थे। उसके चले जाने पर आपस में कहते, इनके

पिता हँसिया-खुर्पी छोड़कर परदेस गए थे, खैर उनकी तो निबह गई, पर इन्हें देखो, पकड़ाते हैं चार साल में।

"विद्या ने कभी पति को सलाह न दी। पति की ही मर्जी उसकी मर्जी रही। रामकुमार के हृदय को भक्ति से स्वार्थ-पूर्ति न होने पर एक चोट लगी है, यह वह समझ चुकी थी, इसलिये अपने स्नेह से बराबर उसे सिक्त रखने का प्रयत्न करती रहती। इसी बल से रामकुमार चल-फिर रहा था। पिता की वर्षी में दो हज़ार का खर्च है। इस बार विद्या के सब गहनों की बाज़ी है। बिना वर्षी किए जा नहीं सकता, पिता को लोग हँसेंगे। यह सोच-सोचकर एक दिन वर्षी की तैयारी करनी पड़ी। विद्या ने कुल ज़ेवर निकाल कर दे दिया। उनकी तरफ़ देखा तक नहीं। बराबर निगाह पति की आँखों से मिली रही।

"वर्षी हो गई। दो हज़ार ब्राह्मणों का जमाव रहा। एक दिन उसने अपने ही कानों शाम को आते हुए सुना; लोग बातचीत कर रहे थे, कैसा बेवक़ूफ़ बनाया? रामकुमार संसार से सब प्रकार हताश हो गया। एक दिन विद्या को विदा कराने के लिये उसका भाई आया। रामकुमार को निराभरण विद्या को भेजते हुए बड़ी लज्जा लगी। पर वह स्वयं कुछ दिनों के लिये विद्या से अलग होना चाहता था। पति को छोड़कर पिता के यहाँ जाने की विद्या की भी इच्छा न थी। उसने निश्चय कर लिया था, एक दिन इनके साथ हाथ पकड़कर हमेशा के लिये घर छोड़ेगी। ऐसी दशा जब उत्तरोत्तर हो रही है, तब वह दिन भी शीघ्र आनेवाला है, जब उसे स्त्रीत्व की विभूतियों से अमर, ऊँचा आदर्श पति के प्रेम में पूरा करना होगा। उसे बिना गहनों के

मायके जाने में लाज न थी, जहाँ उसके बाल-केलियों से उज्ज्वल, निराभरण रूपवाले दिन बीते थे। वह केवल पति के सोच में थी। पर रामकुमार, कुछ समय, हीरे की खान ढूँढ़ने के लिये निकले हुए योरपीयों की तरह, अर्थ के अन्वेषण में अकेला चलना चाहता था। विद्या को घर में निस्संग रहने के कारण कष्ट होगा, सोचकर, मौक़ा देख, एकांत में उसने समझाया कि जब तक किसी जगह वह पैर न जमा सके, तब तक विद्या का मायके ही रहना अच्छा होगा, और उसके बिदा होने के बाद वह भी अर्थ की तलाश में निकलेगा।

"विद्या पति की पद-धूलि लेकर भाई के साथ चली गई। रामकुमार भी अर्थ की खोज में बाहर निकला। लखनऊ, कानपुर और प्रयाग में कई जगह गया, पर किसी ने भी न पूछा। वह क्या जाने कि संसार किसे कहते हैं, एक साधारण सी जगह के लिये कितने असाधारण कार्य करने पड़ते हैं, कितना छल, कितनी ख़ुशामद, कितनी सिफ़ारिश दो रोटियों की नौकरी के लिये आज ज़रूरी हो रही है? उसके राम इस संसार के स्वामी हो सकते हैं, पर बर्ताव में इस संसार के स्वामी उसके राम नहीं। सभी जगह उसे अपमान सहकर लौटना पड़ा; सभी ने उसे बेवक़ूफ़ बनाकर छोड़ा। उसके हृदय की कौन जानता था? पर उसकी मूर्खता नौकरी के लिये बेक़ायदा आकर गिड़गिड़ाने पर सब पहचान लेते थे। वह कितना पवित्र है, इसकी किसे आवश्यकता है? उसे संसार का, ऑफ़िस का कुछ ज्ञान नहीं, यह सब समझ जाते थे। उसने क्यों पहले से ऑफ़िस का ज्ञान प्राप्त नहीं कर लिया? दस रुपए की नौकरी? नहीं है। रुपया पेड़

में फलता है ? लाखों का माल किसी के पास होता है, तो वह लुटा देता है ? लोग दमड़ी की हंडी बजाकर लेते हैं।

"सब जगह ठोकरें मिलीं। रामजी के विश्वास पर इधर जो शैथिल्य आ गया था, संसार का जितना तृण इस मंद अंगार पर पड़ा था, संस्कार की तेज हवा से जलने लगा। तमाम आग राम के ही विश्वास में बदल गई। बार-बार हृदय में स्पंद-स्पंद पर ध्वनित हो चला—जिन पर इतने बड़े-बड़े महात्मा विश्वास करते आए, वह एक मिथ्या कल्पनामात्र है ? आज तक जिसके सहारे का भरोसा किया, वह शून्य की तरह कुछ भी नहीं ? रामकुमार का मस्तिष्क और हृदय जलने लगा। प्रयाग-स्टेशन आ, चित्रकूट के लिये टिकट कटाकर गाड़ी पर बैठ गया।

"जब चित्रकूट उतरा, तब उसके पास कुछ न था। जो कुछ थोड़ा-सा सामान और रुपया-पैसा था, मानिकपुर और कर्वी के बीच जब रात को गाड़ी पहाड़ी जंगल पार कर रही थी, दूसरों की आँख बचाकर फेक दिया। चित्रकूट पहुँच, चूल्लू से पयस्विनी का जल पीकर, एक यात्री की कृपा से नदी पार हो, हनुमद्धारा में पहले रामभक्त महावीर जी के दर्शन करने गया। पहाड़ की सीढ़ियाँ तय कर बड़े भक्तिभाव से हनूमानजी को प्रणाम किया। पर पैसे न चढ़ाए। थे ही नहीं। गृहस्थ और पैसे न चढ़ाए। एक बाबाजी बैठे थे, गालियाँ देने लगे। चुपचाप, कुछ देर भी विश्राम किए बिना, लौटा। महावीरजी की सहायता से विश्व-सम्राट् भगवान् श्रीरामचंद्रजी से वह पैसे माँगने गया था, चढ़ाने नहीं। थका हुआ, सीढ़ियाँ उतरने लगा। सावन की सजल दिगंत तक फैली हुई श्याम शोभा राममयी हो रही थी, शीतल सुख-स्पर्श वर्षा-

समीर बह रही थी, पर उसके हृदय की आग इससे और जल-जल उठने लगी। इतने जल में भी मुख सूख गया। नदी के किनारे दीन भाव से आकर खड़ा हुआ। अबकी मल्लाह ने स्वयं दया की। पार उतरकर रामकुमार कामदगिरि की परिक्रमा करने लगा। पहाड़ पर मोरों के झुंड निर्भय नृत्य कर रहे थे। बड़े-बड़े पेड़ हवा के झोकों से लहरा-लहराकर कह रहे थे, हम पूर्ण हैं, हमें कुछ भी न चाहिए, एक जगह लोगों से उसने पूछा, भगवान के इस गिरि पर क्या है ? लोगों ने कहा, इस पर भगवान स्वयं रहते हैं, ऊपर एक बड़ा सा सरोवर है, उसके किनारे उनकी कुटी है, वहीं सीताजी और लक्ष्मणजी के साथ वह निरंतर तपस्या करते हुए भक्तों की मनोवांछाएँ पूरी करते रहते हैं। रामकुमार ने आग्रह से फिर पूछा, वहाँ दर्शन के लिये जाने की मनाही क्यों है ? उत्तर मिला, वहाँ जाने से भी दर्शन नहीं हो सकते, भगवान्, सरोवर, कुटी सब लुप्त हो जाता है। रामकुमार को बड़ा तअज्जुब हुआ। उसने निश्चय किया, लोग दिन को नहीं चढ़ने देते, मैं रात को चढ़ूँगा। फिर वह परिक्रमा करता गया। पहले भूख और प्यास से सूख रहा था, अब इस निश्चय से; राम-दर्शन पर भर विश्वास दृढ़ हुआ, चेहरा गुलाब के फूल-जैसा खुल गया। प्राकृतिक शोभा जैसे सूचित कर रही हो, राम हैं वह मिलेंगे। खुशी से परिक्रमा करता हुआ मंसूबे बाँधता रहा।

"परिक्रमा समाप्त कर एक मंदिर में शिव-नाम जपता हुआ उनकी कृपा की भिक्षा, जिससे रामजी के दर्शन मिल जायँ, और अपने समय की प्रतीक्षा करता रहा। सब दिनों की असफलता आज आशा में पूरी सफलता बनकर उसे अपूर्व आनंद में लहरा

रही थी। रात दस बजे तक वह उसी मंदिर में बैठा रहा। जब देखा कि सब सुनसान हो गया है, तब बाहर निकला। घोर अंधकार छाया हुआ था। आकाश में सावन की घटा छाई हुई थी, हवा चल रही थी, बादल गरज रहे थे। परिक्रमा का अंत करने से कुछ पहले एक स्थान उसे ऐसा मिला, जहाँ मंदिर कम हैं, रास्ता रोकनेवाले लोगों का भय नहीं। वहीं से पहाड़ चढ़ने का उसने निश्चय किया था, उसी ओर उल्टी परिक्रमा करता हुआ चला। घोर रात्रिकाल। मंदिरों के द्वार बंद हो चुके थे। शायद लोग भी सो चुके हों। तीव्र आकांक्षा से बढ़ता हुआ अपने स्थान पर पहुँचा। देखा, कामद-गिरि का बड़ा भयानक रूप हो रहा था। पर रामकुमार के प्राणों को चोट पहुंची थी, राम को वह प्यार करता था, उन्हीं राम ने संसार में उसे अकेला छोड़ दिया है, प्रार्थना पर भी सहायता नहीं की। इसलिये मृत्यु भी आज तुच्छ है—सत्य का साक्षात्कार चिरकाल के प्यारवाले राम एक तरफ़ हैं, घोर प्रकृति, दुर्धर्ष पहाड़, अपार बाधाएँ प्राणों का मोह पैदा करती हुई एक तरफ़। पर प्राणों का मोह तो उसे होता है जिसका संसार सुखमय, विलास की रंगशाला में परियों की पद-भूमि हो। एक बार पहाड़ की ओर गर्दन उठाकर रामकुमार ने देखा। घोर अंधकार के सिवा कुछ भी न देख पड़ा। उसके बाद नम्र गिरि की पूजा में अपने वस्त्र उतार कर पद-मूल में कर मन-ही-मन कहा—लो, अब कुछ भी मेरे पास अपना कहने के लिये नहीं रह गया, मैं अब केवल उनसे मिलकर एक बार पूछना चाहता हूँ, मेरे पत्र का ग्रहण मेरे किस अपराध के फल-स्वरूप आपने नहीं किया? अर्द्ध-विक्षिप्त सा होकर, बाह्य-त्याग की सीमा तक पहुँचा-

कर रामकुमार पहाड़ चढ़ने लगा। कमरभर सब जगह घास उगी हुई, खड़ा पहाड़, वर्षा के जल से पत्थरों पर कहीं-कहीं काई जमी हुई, प्रति पद साँप और बिच्छुओं का भय। पर रामकुमार को कोई होश नहीं, केवल राम से मिलने की लगन लगी हुई। कुछ दूर पहाड़ से एक झरना उतरा था, जल न था, वह रास्ता मिलने पर, उसी से हाथ-पैर, चारो टेककर चढ़ता गया। कुछ जाने पर थका, तो महावीरजी के देह के घी-मिले सेंदुर की सुगंध आने लगी। मन में विचार आया, महावीरजी मेरे साथ मेरी रक्षा कर रहे हैं, फिर प्राणों को अपूर्व बल प्राप्त हो गया। फिर चढ़ने लगा। तीन चौथाई पहाड़ चढ़ गया, तब सामने पहाड़ का एक हिस्सा लटका हुआ देख पड़ा। चढ़ने का उपाय न था। बड़ा दुःख हुआ। उसी समय बिजली कौंधी। प्रकाश में कुछ पग दाहने एक पेड़ देख पड़ा, जो उस पहाड़ के लटकते हिस्से की बग़ल से उगकर उससे मिला हुआ तने से ही कुछ ऊँचा उठ गया था। रामकुमार उसी पेड़पर चढ़कर उस लटकते हिस्से पर गया। अब बूँदों की वर्षा होने लगी। पर रामकुमार चढ़ता ही गया। जब कुछ और ऊपर गया, तो वैसा ही एक दूसरा, उससे कुछ और ऊँचा लटकता हिस्सा देख पड़ा। ठीक इसके बाद कामद-गिरि की चढ़ाई समाप्त थी। पर चढ़ने का कोई उपाय न था। बिजली चमकी, देखा, दूर तक पहाड़ वैसा ही खड़ा चढ़ा था, ऊपर से लटका हुआ। अब पानी भी धीरे-धीरे बरसने लगा। लाचार हो उसी लटके पहाड़ के नीचे बैठकर रोने लगा।

"कुछ देर बाद पानी बंद हो गया। उसे भय हुआ कि दिन को लोग देखेंगे, तो पकड़ कर मारेंगे। रात दो-ढाई घंटे रह गई

थी, तब तक पहाड़ से उतर जाने का निश्चय कर उतरने लगा। उसी तरह पहले पेड़ से होकर उतरा। फिर धीरे-धीरे, घंटे-भर बाद नीचे आया। कपड़े जो उतार कर कामद-गिरि पर चढ़ा दिए थे, फिर से पहन लेने की इच्छा हुई। जहाँ उतारे थे, वह देखने लगा, वहाँ कोई कपड़ा न मिला। पवनदेव न जाने कहाँ उड़ा ले गए थे। अब बड़ी लज्जा लगी। अँधेरा जब तक है, तब तक बस्ती छोड़कर दूर निकल जाने को जी करने लगा। वह पयस्विनी की तरफ़ चला। रास्ते में नाला छाती भर भरा हुआ मिला। वहाँ उसे मालूम हुआ, पानी ज़ोर का गिरा है। नाला पार कर पयस्विनी के तट पर गया, तो पानी के मारे सब घाट डूब गए थे। नदी का रूप भयंकर हो रहा था। जहाँ आदमी चलते थे, वहाँ कहीं-कहीं छाती से ज्यादा पानी था। यह देखकर अजाने एक दूसरे रास्ते से चल कर सीतापुर के भीतर पैठा। जल्द-जल्द बस्ती के बाहर जा रहा था। ऊषा के क्षीण प्रकाश से अँधेरा हट चला। अभी तक लोग जगे न थे। कुछ दूर जाने पर ब्राह्ममूहूर्त में उठने वाले एक यज्ञोपवीतधारी ब्राह्मण मिले। ब्राह्मण देवता को देखकर राम-कुमार ने करुण कंठ से प्रार्थना की—आप अपना गमछा मुझे दे दीजिए। यहाँ बस्ती है।' ब्राह्मण गला फाड़कर पुकार उठे—'चोर है! पुलिस-पुलिस!' रामकुमार धीर पद चल दिया। लोगों ने निकल कर देखा, प्रशांत अविचल नग्न युवक-साधु चला जा रहा है—उसकी चाल में चोर के लक्षण नहीं। ब्राह्मण ने कहा, 'यह मुझसे अँगौछा माँग रहा था।' लोगों ने कहा, 'मूर्ख, बस्ती के विचार से साधु ने ऐसा कहा होगा, तेरा एक अँगौछा लेकर

वह क्या करेंगे ? तूने बड़ा धोका खाया, डेढ़गज़ कपड़े के तुझे थानों मिलते ।'

"धीरे धीरे रामकुमार बस्ती पार कर गया। जिधर निगाह जाती है, लक्ष्य-हीन उसी तरफ़ चला गया। दुःख, ग्लानि, क्षोभ, क्लांति और भूख से बिलकुल मुरझा गया था। मन इतने उच्च स्तर पर था कि उसे अपने नग्न शरीर के लिये अब बिल्कुल लज्जा न थी। प्रकाश फैलने के साथ ही लाज का अँधेरा भी मिट गया। सामने महुए के दो-तीन पेड़ देख पड़े उसी ओर चला। पहुँच कर छाया में बैठते ही इतनी क्लांति बढ़ी कि लेट गया। लेटते ही बेहोश हो गया।

"जब जागा, तब दोपहर थी। देह फूल सी हलकी हो गई थी। इतनी स्वच्छता का उसे कभी अनुभव न था। शंका आप-ही-आप पैदा हुई—'क्या भगवान् नहीं है ?'

सुना ठीक मस्तक के ऊपर से आवाज़ आई—'हैं, हैं।'

तअज्जुब में आ निगाह उठाकर देखा, एक सुग्गा बैठा हुआ फिर 'टें-टें' कर उठा।

"संदेह से निगाह हटा ली। फिर शंका हुई, यह सब क्या है ?"

"फिर ऊपर से आवाज़ आई"—'चित्रकूट, चित्रकूट।'

"मन में उत्तर तैयार हो गया"—'चित्रकूट है इसका।'

"समास का ज्ञान रामकुमार को था। इस उत्तर के निकलते ही जैसे सारी पृथ्वी उसकी दृष्टि में चक्कर खाने लगी, पेड़ आदि सब घूमने लगे, घूमते-घूमते धूमिल छाया में बदलते हुए सब आकाश में मिलने लगे। अंत में रामकुमार को कहीं कुछ न

देख पड़ा। उसके देह है, यह ज्ञान भी न रहा। शरीर निश्चल, आँखें निष्पलक रह गईं।"

"कुछ देर बाद ज्ञान हुआ। गोस्वामी तुलसीदास जी की जीवनी का वह अंश याद आया, जहाँ लिखा है, महावीर रूपी तोते ने कहा है।"—

चित्रकूट के घाट पै भइ संतन की भीर;
तुलसिदास चंदन घिसैं, तिलक देत रघुबीर।

इसके बाद ही शुकदेव की याद आई।

"मन में फिर शंका हुई, तो क्या अभी-अभी जो कुछ मैंने देखा, यही राम हैं? फिर सुन पड़ा—हाँ-हाँ! आँख उठाकर देखा—'टें टें करता हुआ सुआ उड़ गया।'

"फिर मन चिरकाल से अभ्यस्त अज्ञानवाले घर में जाना ही चाहता था कि 'उठ-उठ' की आवाज़ आई। फिरकर देखा, तो एक कठफोरा दूसरे महुए की सूखी डाल में खटाखट चोंच मार रहा था।

"इस समय कुछ चरवाहे बालक सामने आ, हाथ जोड़कर बोले, 'महाराज, गाँव जाइए। पास ही, वह देख पड़ता है।'

"रामकुमार उठकर खड़ा हो गया। भूख लग आई। भिक्षा की इच्छा हुई। गाँव की ओर चला। मन आज की विश्व प्रकृति के अद्भुत सत्य-परिचय में तन्मय था, स्वभाव एक सरल बालक का बन रहा था। लज्जा लेश-मात्र न थी। घर-द्वार, पेड़ पौदे छायामय दिखाई दे रहे थे। उनका सत्य उसीके पास सिमटा हुआ था। गाँव पहुँचकर, एक द्वार पर खड़ा हो, मौन अंजलि फैला दी। उसे अब कोई आवश्यकता नहीं मालूम दी कि यह

किस जातिवाले का घर है, जाँचकर भिक्षा ले। वह बाहरी दुनिया को इतना कम देख रहा था। जिसके द्वार पर उसने हाथ फैलाया था, वह नीच जाति का मनुष्य था। उसके यहाँ किसी साधु ने भोजन-भिक्षा नहीं ली। उसके संस्कार भी ऐसे बन गए थे कि उसे भोजन देते हुए संकोच हुआ, गाँव के ऊँचे कुलवालों से डरा, प्रणाम कर भक्ति-पूर्वक उसने कहा, महाराज, आप उस तरफ़ जाइए; उधर ब्राह्मणों के मकान हैं। रामकुमार उसी तरफ़ चला। कुछ दूर पर एक आदमी बैठा था, देखकर रामकुमार ने पूर्ववत् अंजलि फैला दी।

"इसी समय, 'अरे रामकुमार ! तुम्हारा यह हाल !!' कहकर वह युवक ऊँचे स्वर से रोने लगा। अब रामकुमार का भी ध्यान उसकी तरफ़ गया। उसने देखा, युवक उसका मित्र है। जब वह पिता के साथ परदेश में रहता था, तब वहाँ यह युवक भी अपनी बहन के पास जाकर कुछ साल तक ठहरा था। दोनों घनिष्ठ मित्रता के पाश में बँध चुके थे।

"परिचय के पश्चात् रामकुमार का मन नीचे उतर चला। उसे लाज लगने लगी। युवक एक धोती आप-ही-आप ले आया, और देकर कहा कि इसे पहनकर यहीं कुछ दिन रहो, और अपने समाचार कहो। उसकी स्नेहमय मैत्री का दबाव रामकुमार हटा न सका। धोती पहनने लगा। गाँव के कुछ लोग एकटक यह स्नेह संयोग देख रहे थे। बाद को युवक से उन्हें मालूम हुआ, यह भले घर का लिखा-पढ़ा लड़का है, भक्ति के आवेश में इसने ऐसा किया है।

जलपान तथा भोजन समाप्त कर युवक ने अपने पिता के

स्वर्गवास का हाल तो कहा, पर वह भगवान रामचंद्रजी से रुपया माँगने के लिये चित्रकूट आया हुआ है, और इसी उद्देश्य से न[illegible] है, यह कुछ न कहा। उसी रात को सोते हुए उसने स्वप्न देखा, उसका वही मित्र सूर्य की तरह प्रकाशवान्, श्यामलाभ, धनुर्धर साक्षात् रामचंद्र हैं, हँसता हुआ कह रहा है, तुमने अर्थ के लिये बड़ा परिश्रम किया, मैंने तुम्हें दिया। इसी समय आँखें खुल गईं। देखा, उसका युवक मित्र उठा बैठा है, ठीक ब्राह्ममुहूर्त है। युवक ने कहा, "रामकुमार, मैंने आज बड़ा खराब स्वप्न देखा, देखा कि तुम एक नदी तैरकर पार कर रहे हो, पर बीच धारा में पड़कर बहे जा रहे हो, तुम्हें बचाने के लिये मैं भी नदी में कूदा, तब न वहाँ पानी था, न तुम, घबराकर उठ बैठा।"

"दूसरे दिन रामकुमार को कर्वी-स्टेशन पर ले जाकर उसने घर तक का टिकट कटा दिया, प्रयाग उतरकर नौकरी की तलाश में पूछताछ करता हुआ वह 'नवयुग' प्रेस में गया, वहाँ चिट्ठियाँ लिखने के लिये एक क्लर्क की आवश्यकता थी, जगह बीस रुपए की। उसकी बातचीत से मालिक को दया आ गई, उसे रख लिया।

"वहीं से उसने पढ़ना शुरू किया, और साल ही भर में एक उपन्यास लिखा, और मुफ्त छापने को दे दिया। उपन्यास की भाषा बड़ी सजीव थी। भाव बिलकुल नए। लोगों को बहुत पसंद आया। ख़ूब बिका। नौकरी छोड़ दी। दूसरे साल तीन उपन्यास लिखे। चार ही साल में वह उपन्यास-साहित्य की चोटी पर पहुँच गया। कई हज़ार रुपए उसने एकत्र कर लिए। सारा ऋण चुका दिया, और अब विद्या के साथ सुख-पूर्वक रहता है।

"रामकुमार का कहना है कि ईश्वर ही अर्थ हैं, वह जिस भक्त

पर कृपा करते हैं, उससे सूक्ष्म अर्थ बनकर रहते हैं, जिससे वह स्थूल अर्थ पैदा करता रहता है।" हीरालाल ने कहा—"संसार के व्यवसाय में भी सूक्ष्म अर्थ ही स्थूल अर्थ पैदा होने का कारण है।"

फिर दिनेश की ओर देखकर पूछा—"अच्छा, तोते की जगह आपको विश्वास होता है?"

"मुझे कुल आत्म-कथा पर विश्वास है।" दिनेश ने उत्तर दिया।

"तो रामकुमार की तरह आपको भी हिंदू-धर्म के गपोड़ों पर विश्वास करने की आदत है।"

"नहीं, इसलिये नहीं, बल्कि रामकुमार······"

छूटते ही हीरालाल ने पूछा—"रामकुमार आप ही हैं?"

"नहीं रामकुमार को वस्त्र देनेवाला उसका मित्र।"

---

# श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी

श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी श्रीमान् पं० गजानन्द शास्त्री की धर्मपत्नी हैं। श्रीमान् शास्त्री जी ने आपके साथ यह चौथी सादी की है, धर्म की रक्षा के लिए। शास्त्रिणी जी के पिता को षोड़सी कन्या के लिए पैंतालीस साल का वर बुरा नहीं लगा, धर्म की रक्षा के लिए। वैद्य का पेशा अख्तियार किये शास्त्री जी ने युवती पत्नी के आने के साथ शास्त्रिणी का साइन-बोर्ड टाँगा, धर्म की रक्षा के लिए। शास्त्रिणी जी उतनी ही उम्र में गहन पातिव्रत्य पर अविराम लेखनी चालना कर चलीं धर्म की रक्षा के लिए।

इससे सिद्ध है, धर्म बहुत ही व्यापक है। सूक्ष्म दृष्टि से देखनेवालों का कहना है कि नश्वर संसार का कोई काम धर्म के दायरे से बाहर नहीं। संतान पैदा होने के पहले से मृत्यु के बाद—पिण्डदान तक, जीवन के समस्त भविष्य, वर्तमान और भूत को व्याप्त कर धर्म-ही-धर्म है।

जितने देवता हैं, चूँकि देवता हैं, इस लिए धर्मात्मा हैं। मदन को भी देवता कहा है। यह जवानी के देवता हैं। जवानी जीवन भर का शुभ-मुहूर्त है, सब से पुष्ट, कर्मठ और तेजस्वी देवता

मदन, जो भस्म होकर नहीं मरे, लिहाजा यह काल और काल के देवता सब से ज्यादा सम्मान्य, फलतः क्रियाएँ भी सब से अधिक महत्वपूर्ण, धार्मिकता लिये हुए। मदन को कोई देवता न माने तो न माने, पर यह निश्चय है कि आज तक कोई देवता इन पर प्रभाव नहीं डाल सका। किसी धर्म, शास्त्र या अनुशासन को यह मानकर नहीं चले, बल्कि, धर्म शास्त्र और अनुशासन के माननेवालों ने ही इनकी अनुवर्तिता की है। यौवन को भी कोई कितना निंद्य कहे, चाहते सब हैं, वृद्ध सर्वस्व भी स्वाहा कर। चिन्ह तक लोगों को प्रिय है—खिजाब की कितनी खपत है। धातुपुष्टि की दवा सब से ज्यादा बिकती है। साबुन, सेंट, पाउडर, क्रीम, हेजलीन, वेसलीन, तेल, फुलेल के लाखों कारखाने हैं, और इस दरिद्र देश में। जब न थे, तब रामजी और सीताजी उबटन लगाते थे। नाम और प्रसिद्धि कितनी है—ससार की सिनेमास्टारों को देख जाइए। किसी शहर में गिनिए—कितने सिनेमा-हाउस हैं। भीड़ भी कितनी—आवारागर्द मवेशी काइन्ज हाउस में इतने न मिलेंगे। देखिए—हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी, जैन, बौद्ध, क्रिस्तान, सभी, साफा; टोपी, पगड़ी, कैप, हैट और पाग से लेकर नंगा सिर—घुटना तक; अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, द्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी, शुद्धाद्वैतवादी, साम्राज्य-वादी, आतङ्कवादी, समाजवादी, काज़ी, नाज़ी, सूफ़ी से लेकर छायावादी तक; खड़े बेड़े सीधे टेढ़े सब तरह के तिलक-त्रिपुराड; बुरकेवाली, घूघटवाली, पूरे और आधे और चौथाई बालवाली, खुली और मुँदी चश्मेवाली आँखें तक देख रही हैं। अर्थात् संसार के जितने धर्मात्मा हैं, सभी यौवन से प्यार करते हैं। इसलिए

उसके कार्य को भी धर्म कहना पड़ता है। किसी के न कहने—न मानने से वह अधर्म नहीं होता।

अस्तु, इस यौवन के धर्म की ओर शास्त्रिणी जी का धावा हुआ, जब वह पन्द्रह साल की थीं अविवाहिता। यह आवश्यक था, इसलिये पाप नहीं। मैं इसे आवश्यकतानुसार ही लिखूँगा। जो लोग विशेष रूप से समझना चाहते हों, वे जितने दिन तक पढ़ सकें, काम-विज्ञान का अध्ययन कर लें। इस शास्त्र पर जितनी पुस्तकें हैं, पूरे अध्ययन के लिए पूरा मनुष्य-जीवन थोड़ा है। हिन्दी में अनेक पुस्तकें इस पर प्रकाशित हैं, बल्कि प्रकाशन को सफल बनाने के लिए इस विषय की पुस्तकें आधार मानी गई हैं। इससे लोगों को मालूम होगा कि यह धर्म किस अवस्था से किस अवस्था तक किस-किस रूप में रहता है।

( २ )

शास्त्रिणी जी के पिता जिला बनारस के रहने वाले हैं, देहात के, पयासी, सरयूपारीण ब्राह्मण, मध्यमा तक संस्कृत पढ़े; घर के साधारण जमींदार, इसलिए आचार्य भी विद्वत्ता का लोहा मानते हैं। गाँव में एक बाग़ क़लमी लँगड़े का है। हर साल भारत-सम्राट को आम भेजने का इरादा करते हैं, जब से वायुयान-कम्पनी चली। पर नीचे से ऊपर को देखकर ही रह जाते हैं, साँस छोड़ कर। ज़िले के अँगरेज़ हाकिमों को; आम पहुँचाने की पितामह के समय से प्रथा है। यह भी सनातनधर्मानुयायी हैं। नाम पं० रामखेलावन है।

रामखेलावनजी के जीवन में एक सुधार मिलता है। अपनी कन्या का, जिन्हें हम शास्त्रिणी जी लिखते हैं, नाम उन्होंने सुपर्णा रक्खा है। गाँव की जीभ में इसका यह रूप नहीं रह सका; प्रोग्रेसिव राइटर्स की साहित्यिकता की तरह 'पन्ना' बन गया है। इस सुधार के लिए हम पं० रामखेलावनजी को धन्यवाद देते हैं। पंडितजी समय काटने के विचार से आप ही कन्या को शिक्षा देते थे, फलस्वरूप कन्या भी उनके साथ समय काटती गई और पन्द्रह साल की अवस्था तक, सारस्वत में हिलती रही। फिर भी गाँव की वधू-वनिताओं पर, उसकी विद्वत्ता का पूरा प्रभाव पड़ा। दूसरों पर प्रभाव डालने का उसका जमीदारी स्वभाव था, फिर संस्कृत पढ़ी, लोग मानने लगे। गति में चापल्य उसकी प्रतिभा का सब से बड़ा लक्षण था।

उन दिनों छायावाद का बोलबाला था, खास तौर से इलाहाबाद में। लड़के पंत के नाम की माला जपते थे, ध्यान में लगाये। कितनी लड़ाइयाँ लड़ी प्रसाद, पंत और माखनलाल के विवेचन में। भगवतीचरण बायरन से आगे हैं, पीछे रामकुमार, कितनी ताक़त से सामने आते हुए। महादेवी कितना खींचती हैं।

मोहन उसी गाँव का, इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी० ए० ( पहले साल ) में पढ़ता था। यह रंग उस पर भी चढ़ा और दूसरों से अधिक। उसे पंत की प्रकृति प्रिय थी, और इस प्रियता से जैसे पंत में बदल जाना चाहता था। सङ्कोच, लज्जा, मार्जित मधुर उच्चारण, निर्भीक नम्रता, शिष्ट आलाप, सजधज उसी तरह। रचनाओं से रच गया। साधना करते सधी रचना करने लगा।

पर सम्मेलन शरीक अब तक नहीं गया। पिता हाईकोर्ट में क्लर्क थे। गर्मी की छुट्टियों में गाँव आया हुआ है।

सुपर्णा से परिचय है जैसे पर्ण और सुमन का। सुमन पर्ण के ऊपर है, सुपर्णा नहीं समझी। जमीन्दार की लड़की, जिस तरह वहाँ की समस्त डालों के ऊपर अपने को समझती थी, उसके लिए भी समझी। ज्यों-ज्यों समय की हवा से हिलती थी; सुमन की रेणु से रँग जाती थी; समझती थी, वह उसी का रंग है। मोहन शिष्ट था, पर अपना आसन न छोड़ता था।

सुपर्णा एक दिन बाग़ में थी। मोहन लौटा हुआ घर आ रहा था। सुपर्णा रँग गई। बुलाया। मोहन फिर भी घर की तरफ़ चला।

"मोहन! ये आम बाबूजी दे गये हैं, ले जाओ। तकवाहा बाज़ार गया है।"

मोहन बाग़ की ओर चला। नज़दीक गया तो सुपर्णा हँसने लगी।—"कैसा धोका देकर बुलाया है?—आम बाबूजी ने तुम्हारे यहाँ कभी और भी भिजवाये हैं?" मोहन लजाकर हँसने लगा।

"लेकिन तुम्हारे लिए कुछ आम चुनकर मैंने रक्खे हैं। चलो।"

मोहन ने एक बार संयत दृष्टि से उसे देखा। सुपर्णा साथ लिये बीच बाग़ की तरफ चली—"मैंने तुम्हें आते देखा था तुमसे मिलने को छिपकर चली आई। तकवाहे को सौदा लेने बाज़ार (दूसरे गाँव) भेज दिया है। याद है मोहन?"

"क्या?"

"मेरी गुइयाँ ने तुम्हारे साथ खेल में।"

"वह तो खेल था।"

"नहीं, वह सही था। मैं अब भी तुम्हें वही समझती हूँ।"

"लेकिन तुम पयासी हो। शादी तुम्हारे पिता को मंजूर न होगी।"

"तो तुम मुझे कहीं ले चलो। मैं तुमसे कहने आई हूँ। दूसरे से ब्याह करना मैं नहीं चाहती।"

मोहन की सुन्दरता गाँव की रहनेवाली सुपर्णा ने दूसरे युवक में नहीं देखी। उसका आकर्षण उसकी मा को मालूम हो चुका था। उसका मोहन के घर जाना बन्द था। आज पूरी शक्ति लड़ाकर, मौक़ा देखकर मोहन से मिलने आई है मोहन खिंचा। उसे यहाँ वह प्रेम न दिखा, वह जिसका भक्त था, कहा—

"लेकिन मैं कहाँ ले चलूँ?"

"जहाँ रहते हो।"

"वहाँ जो पिताजी हैं।"

"तो और कहीं।"

"खायेंगे क्या?"

खाना पड़ता है, यह सुपर्णा को याद न था। मोहन से लिपटी जा रही थी।

इसी समय तकवाहा बाज़ार से आ गया। देर का गया था। देखकर सचेत करने के लिए आवाज़ दी। सुपर्णा घबराई। मोहन खड़ा हो गया।

तकवाहा बारा आ सौदा देकर मोहन को ज़मींदार की ही

दृष्टि से घूरता रहा। मतलब समझकर मोहन धीरे-धीरे बाग से बाहर निकला और घर की ओर चला।

तकवाहा धार्मिक था। जैसा देखा था, पं० रामखेलावनजी से व्याख्यासमेत कहा। साथ ही इतना उपदेश भी दिया कि मालिक! पानी की भरी खाल है, कब क्या हो जाय! बिटिया रानी का जल्द ब्याह कर देना चाहिए।

पं० रामखेलावनजी भी धार्मिक थे। धर्म की सूक्ष्मतम दृष्टि से देखने लगे तो मालूम पड़ा कि सुपर्णा के गर्भ है, नौ-दस महीने में लड़का होगा। फिर? इस महीने लगन है—ब्याह हो जाना चाहिए।

जल्दी में बनारस चले।

( ३ )

पं० गजानन्द शास्त्री बनारस के वैद्य हैं। वैदकी साधारण चलती है, बड़े दाँव-पेंच करते हैं तब। पर आशा बहुत बढ़ी-चढ़ी है। सदा बड़े-बड़े आदमियों की तारीफ करते हैं और ऐसे स्वर से, जैसे उन्हीं में से एक हों। वैदकी चले इस अभिप्राय से शाम को रामायण पढ़ते-पढ़ाते हैं तुलसीकृत; अर्थ स्वयं कहते हैं। गोस्वामी जी के साहित्य का उनसे बड़ा जानकार—विशेषकर रामायण का, भारतवर्ष में नहीं, यह श्रद्धापूर्वक मानते हैं। सुननेवाले ज्यादातर विद्यार्थी हैं, जो भरसक गुरु के यहाँ भोजन करके विद्याध्ययन करने काशी आते हैं। कुछ साधारण जन हैं, जिन्हें असमय पर मुफ्त दवा की जरूरत पड़ती है। दो-चार ऐसे भी आदमी, जो काम तो साधारण करते हैं पर

असाधारण आदमियों में गप लड़ाने के आदी हैं। मजे की महफ़िल लगती है। कुछ महीने हुए, शास्त्री जी की तीसरी पत्नी का असच्चिकित्सा के कारण देहान्त हो गया है। बड़े आदमी की तलाश में मिलनेवाले अपने मित्रों से शास्त्री जी बिना पत्नी वाली अड़चनों का बयान करते हैं, और उतनी बड़ी गृहस्थी आठा बाठा जाती है—इसके लिए विलाप। सुपात्र सरयूपारीण ब्राह्मण हैं; मामखोर सुकुल।

पं० रामखेलावन जी बनारस में एक ऐसे मित्र के यहाँ आकर ठहरे, जो वैद्यजी के पूर्वोक्त प्रकार के मित्र हैं। रामखेलावन जी लड़की के ब्याह के लिए आये हैं, सुनकर मित्र ने उन्हें ऊपर ही लिया, और शास्त्रीजी की तारीफ़ करते हुए कहा, ऐसा सुपात्र बनारस शहर में न मिलेगा। शास्त्री जी की तीसरी पत्नी अभी गुजरी है; फिर भी उम्र अभी अधिक नहीं—सुनकर पं० राम-खेलावन जी ने मन-ही-मन बाबा विश्वनाथ को दण्डवत् की और बाबा विश्वनाथ ने हिन्दू-धर्म के लिए क्या-क्या किया है, इसका उन्हें स्मरण दिलाया—वह भक्तवत्सल आशुतोष हैं, यह यहीं से विदित हो रहा है—मर्यादा की रक्षा के लिए अपनी पुरी में पहले से कर लिये बैठे हैं—आने के साथ मिला दिया। अब यह बँधान न उखड़े, इसकी बाबा विश्वनाथ को याद दिलाई।

पं० रामखेलावनजी के मित्र पं० गजानन्द शास्त्री के यहाँ उन्हें लेकर चले। जमींदार पर एक धाक जमाने की सोची, कहा—"लेकिन बड़े आदमी हैं; कुछ लेन देनवाली पहले से कह दीजिए, आखिर उनकी बराबरी के लिए कहना ही पड़ेगा कि जमीन्दार हैं।"

"जैसा आप कहें।"

"कुल मिलाकर तीन हज़ार तो दीजिए, नहीं तो अच्छा न लगेगा।"

"इतना तो बहुत है।"

"ढाई हजार? इतने से कम में न होगा। यह दहेज की बात नहीं, बनाव की बात है।"

"अच्छा इतना कर दिया जायगा। लेकिन विवाह इसी लगन में हो जाना चाहिए।"

"मित्र चौंका। सन्देह मिटाने के लिए कहा "भई, इस साल तो नहीं हो सकता।"

पं० रामखेलावन जी घबराकर बोले—"आप जानते ही हैं ग्यारह साल के बाद लड़की जितना ही पिता के यहाँ रहती है, पिता पर पाप चढ़ता है। पन्द्रह साल की है। सुन्दर जोड़ी है। लड़की अपने घर जाय, चिन्ता कटे। ज़माना दूसरा है।"

मित्र को आशा बँधी। सहानुभूतिपूर्वक बोले—"बड़ा जोर लगाना पड़ेगा, अगले साल हो तो बुरा तो नहीं?"

पं० रामखेलावन जी चलते हुए रुककर बोले—"अब इतना सहारा दिया है, तो खेवा पार ही कर दीजिए। बड़े आदमी ठहरे, कोई हमसे भी अच्छा तब तक आ जायगा।"

मित्र को मजबूती हुई। बोले—"उनकी स्त्री का देहान्त हुआ है, अभी साल भी पूरा नहीं हुआ। बरखी से पहले तो मंजूर न करेंगे। लेकिन एक उपाय है, अगर आप करें।"

"आप जो भी कहें, हम करने को तैयार हैं, भला हमें ऐसा दामाद कहाँ मिलेगा?"

"बात यह कि कुल सराधें एक ही महीने में करवानी पड़ेगी, और फिर ब्रह्म-भोज भी तो है, और बड़ा। कम-से-कम तीन हज़ार रुपये भी दीजिए। पर उन्हें नहीं। अरे रे!—इसे वह अपमान समझेंगे। हम दें। इससे आपकी इज्ज़त बढ़ेगी, और आख़िर हमें बढ़कर उनसे कहना भी तो है कि बराबर की जगह है? हज़ार जब उनके हाथ पर रक्खेंगे कि आपके ससुरजी ने बरखी के खर्च के लिए दिये हैं, तब यह दस हज़ार के इतना होगा, यही तो बात थी। वह भी समझेंगे।"

पं० रामखेलावन जी दिल से कसमसाये, पर चारा न था। उतरे गले से कहा—"अच्छी बात है।" मित्र ने कहा—"तो रुपये कब तक भेजिएगा? अच्छा, अभी चलिए देख तो लीजिए, लेकिन विवाह की बातचीत न कीजिएगा, नहीं तो निकाल ही देंगे। समझिए—पत्नी मरी है।"

रामखेलावन दबे। धीरे-धीरे चलते गये। "लड़की कुछ पढ़ी भी है?—पढ़ती तो थी—तीन साल हुए, जब मैं गया था, गवाही थी—मौका देखने के लिए?" मित्र ने पूछा।

"लड़की तो सरस्वती है। आपने देखा ही है। संस्कृत पढ़ी है।"

"ठीक है। देखिए, बाबा विश्वनाथ हैं।" मित्र की तरह पर उतरे गले से कहा।

रामखेलावन जी दबे कि बिगाड़ न दें। दिल से जानते थे, बदमाश है, उनकी तरफ से झूठ गवाही दे चुका है रुपये लेकर; लेकिन लाचार थे; कहा—"हम तो आपमें बाबा विश्वनाथ को ही देखते हैं। यह काम आपका बनाया बनेगा।"

मित्र हँसा। बोला—"कह तो चुके। गाढ़े में काम न दे, वह मित्र नहीं—दुश्मन है।" सामने देखकर—"यह शास्त्री जी का ही मकान है, सामने।" था वह किराये का मकान। अच्छी तरह देख कर कहा—"हैं नहीं बैठक में, शायद पूजा में हैं।"

दोनों बैठक में गये। मित्र ने पं० रामखेलावनजी को आश्वासन देकर कहा—आप बैठिए। मैं बुलाये लाता हूँ।

पं० रामखेलावन जी एक कुर्सी पर बैठे। मित्रवर आवाज़ देते हुए ज़ीने पर चढ़े।

जिस तरह मित्र ने वहाँ रोब गाँठा था, उसी तरह शास्त्री जी पर गाँठना चाहा। वह देख चुका था, शास्त्री जी खिजाब लगाते हैं, अर्थ-विवाह के सिवा दूसरा नहीं। शास्त्री जी बढ़-बढ़ कर बातें करते हैं, यह मौक़ा बढ़कर बातें करने का है। उसका मंत्र है, काम निकल जाने पर बेटा बाप का नहीं होता। उसे काम निकालना है।

शास्त्री जी ऊपर एकान्त में दवा कूट रहे थे। आवाज़ पहचानकर बुलाया मित्र ने पहुँचने के साथ देखा—खिजाब ताज़ा है। प्रसन्न होकर बोला—"मेरी मानिए, तो वह ब्याह कराऊँ, जैसा कभी किया न हो, और बहू अप्सरा संस्कृत पढ़ी, रुपया भी दिलाऊँ।"

शास्त्री जी पुलकित हो उठे। कहा—"आप हमें दूसरा समझते हैं?—इतनी मित्रता—रोज़ की उठक-बैठक, आप मित्र ही नहीं—हमारे सर्वस्व हैं। आपकी बात न मानेंगे तो क्या रास्ता चलते की मानेंगे?—आप भी!"

"आपने अभी स्नान नहीं किया शायद? नहा कर चन्दन

लगा कर, अच्छे कपड़े पहन कर नीचे आइए। विवाह करनेवाले ज़मींदार साहब हैं। वहीं परिचय कराऊँगा। लेकिन अपना तरफ से कुछ कहिएगा मत। नहीं तो, बड़ा आदमी है, भड़क जायगा। घर की शेख़ी में मत भूलिएगा। आप जैसे उसके नौकर हैं। हाँ, जन्म-पत्र अपना हर्गिज़ न दीजिएगा। उम्र का पता चला तो न करेगा। मैं सब ठीक कर दूँगा। चुपचाप बैठे रहिएगा। नौकर कहाँ है ?"

"बाजार गया है।"

"आने पर मिठाई मँगवाइयेगा। हालाँ कि खायगा नहीं। मिठाई से इनकार करने पर नमस्कार करके सीधे ऊपर का रास्ता नापिएगा। मैं भी यह कह दूँगा, शास्त्री जी ने आधे घण्टे का समय दिया है।"

शास्त्री गजानन्दजी गद्‌गद हो गये। ऐसा सच्चा आदमी यह पहला मिला है, उनका दिल कहने लगा। मित्र नीचे उतरा और मित्र से गम्भीर होकर बोला—"पूजा में हैं; मैं तो पहले ही समझ गया था। दस मिनट के बाद आँख खोली, जब मैंने घंटी टिनटिनाई। जब से स्त्री का देहान्त हुआ है, पूजा में ही तो रहते हैं। सिर हिलाकर कहा—चलो। देखिए, बाबा विश्वनाथ ही हैं—हे प्रभो। शरणागत-शरण ! तुम्हीं हो—बाबा विश्वनाथ !" कहते हुए मित्र ने पलकें मूँद लीं।

इसी समय पैरों की आहट मालूम दी। देखा, नौकर आ रहा था। डाँट कर कहा—"पंखा झल। शास्त्रीजी अभी आते हैं।"

नौकर पंखा झलने लगा। वैद्य का बैठका था ही। पं० राम-खेलावनजी प्रभाव में आ गये। आधे घण्टे बाद जीने में खड़ाऊँ

की खटक सुन पड़ी। मित्र उठ कर हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया, उँगली के इशारे पं० रामखेलावनजी को खड़े हो जाने के लिए कह कर। मित्र की देखा-देखी पंडितजी ने भी भक्ति-पूर्वक हाथ जोड़ लिये। नौकर अचंभे में देख रहा था। ऐसा पहले नहीं देखा था।

शास्त्रीजी के आने पर मित्र ने घुटने तक झुककर प्रणाम किया, पं० रामखेलावनजी ने भी मित्र का अनुसरण किया। "बैठिए, गदाधरजी", कोमल सभ्य कण्ठ से कहकर गजानन्दजी अपनी कुर्सी पर बैठ गए। वैद्यजी की बढ़िया गद्दीदार कुर्सी बीच में थी। पं० रामखेलावनजी आश्चर्य और हर्ष से देख रहे थे। आश्चर्य इसलिए कि शास्त्रीजी बड़े आदमी तो हैं ही, उम्र भी अधिक नहीं, २५ से ३० की कहने की हिम्मत नहीं पड़ती।

शास्त्रीजी ने नौकर को पान और मिठाई ले आने के लिए भेजा और स्वाभाविक बनावटी विनम्रता के साथ मिलकर गदाधर से आगन्तुक अपरिचित महाशय का परिचय पूछने लगे। पं० गदाधरजी बड़े उदात्त कंठ से पं० रामखेलावनजी की प्रशंसा कर चले, पर किस अभिप्राय से वह गये थे, यह न कहा। कहा—"महाराज! आप एक अत्यन्त आवश्यक गृहधर्म से मुक्त होना चाहते हैं।"

पलकें मूँदते हुए, भावावेश में, शास्त्रीजी ने कहा—"काशी तो मुक्ति के लिए प्रसिद्ध है।"

"हाँ, महाराज!" मित्र ने और आविष्ट होते हुए कहा—"वह तो सबसे बड़ी मुक्ति है, पर यह साधारण मुक्ति ही है, आप जैसे बाबा विश्वनाथ के परमसिद्ध भक्त स्वीकारमात्र से इस

भव-बंधन से मुक्ति दे सकते हैं।" कह कर हाथ जोड़ दिये। पं० रामखेलावनजी ने भी साथ दिया।

हाँ, नहीं, कुछ न कहकर एकान्त धार्मिक दृष्टि को परम सिद्ध पं० गजानन्दजी शास्त्री पलकों के अन्दर करके बैठे रहे।

इसी समय नौकर पान और मिठाई ले आया। शास्त्रीजी ने खटक से आँखें खोलकर देखा, नौकर को शुद्ध जल ले आने के लिए कह कर बड़ी नम्रता से पं० रामखेलावनजी को जलपान करने के लिए पूछा। पं० रामखेलावनजी दोनों हाथ उठा कर जीभ उठा कर जीभ काट कर सिर हिलाते हुए बोले—"नहीं नहीं, महाराज, यह तो अधर्म है। चाहिए तो हमें कि हम आपकी सेवा करें, बल्कि आपके सेवा-सम्बन्ध में सदा के लिए—"

"अहाहा! क्या कही!—क्या कही!" कहकर, पूरा दोना उठाकर, एक रसगुल्ला मुँह में छोड़ते हुए मित्र ने कहा—"बाबा विश्वनाथ जी के वर से काशी का एक एक बालक अन्तर्यामी होता है, फिर उनकी सभा के परिषद शास्त्रीजी तो—"

शास्त्रीजी अभिन्न स्नेह की दृष्टि से प्रिय मित्र को देखते रहे। मित्र ने, स्वल्पकाल में रामभवन का प्रसिद्ध मिष्टान्न उदरस्थ कर जलपान के पश्चात् मगही बीड़ों की एक नत्थी मुखव्यादान कर यथा-स्थान रक्खी। शास्त्रीजी विनयपूर्वक नमस्कार कर जीना तै करने को चले। उनके पीठ फेरने पर मित्र ने रामखेलावनजी को साथ लेकर वासस्थल की ओर प्रस्थान किया।

रामखेलावनजी के मौन पर शास्त्रीजी का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ चुका था। कहा—"अब हमें इधर से जाने दीजिए; कल

रुपये लेकर आयेंगे। लेकिन इसी महीने विवाह हो जाय।"

"इसी महीने—इसी महीने", गंभीर भाव से मित्र ने कहा—"जन्म-पत्र लड़की का लेते आइएगा। हाँ, एक बात और है। बाक़ी डेढ़ हजार में बारह सौ का जेवर होना चाहिए, नया; आइएगा, हम ख़रीदवा देंगे"—दल्लाली की सोचते हुए—कहा—"आपको ठग लेगा। आप इतना तो समझ गये होंगे कि इतने के बिना बनता नहीं, तीन सौ रुपए रह आयेंगे। खिलाने-पिलाने और परजों को देने के लिए बहुत है। बल्कि कुछ बच जायगा आपके पास, फ़िजूल ख़र्च हो यह मैं नहीं चाहता। इसीलिए, ठोस-ठोस कामवाला ख़र्च कहा। अच्छा, नमस्कार!"

( ४ )

शास्त्रीजी का ब्याह हो गया। सुपर्णा पति के साथ है। शास्त्रीजी ब्याह करते-करते कोमल हो गये थे, नवीना सुपर्णा को यथाभ्यास सब प्रकार प्रीत रखने लगे।

बाग़ से लौटने पर सुपर्णा के हृदय में मोहन के लिए क्रोध पैदा हुआ। घर वालों ने सख्त निगरानी रखने के अलावा, डर के मारे उससे कुछ नहीं कहा। उसने भी विरोध किये बिना विवाह के बहाव में अपने को बहा दिया। मन में यह प्रतिहिंसा लिये हुए कि मोहन इस बहते में मिलेगा और उसे हो सकेगा तो उचित शिक्षा देगी। शास्त्रीजी को एकान्त भक्त देखकर मन में मुस्कराई।

सुपर्णा का जीवन शास्त्रीजी के लिए भी जीवन सिद्ध हुआ। शास्त्रीजी अपना कारोबार बढ़ाने लगे। सुपर्णा को वैदक की

अनुवादित पुस्तकें देने लगे, नाड़ी-विचार चर्चा आदि करने लगे। उस आग में तृण की तरह जल-जल कर जो प्रकाश देखने लगे, वह मर्त्य में उन्हें दुर्लभ मालूम दिया। एक दिन श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी के नाम से स्त्रियों के लिए बिना फ़ीस वाला रोग-परीक्ष-णालय खोल दिया—इस विचार से कि दवा के दाम मिलेंगे, फिर प्रसिद्धि होने पर फ़ीस भी मिलेगी।

लेकिन ध्यान से सुपर्णा के पढ़ने का कारण कुछ और है। शास्त्रीजी अपनी मेज़ की सजावट तथा प्रतीक्षा करते रोगियों के समय काटने के विचार से 'तारा' के ग्राहक थे। एक दिन सुपर्णा 'तारा' के पन्ने उलटने लगी। मोहन की एक रचना छपी थी। यह उसकी पहली प्रकाशित कविता थी। विषय था व्यर्थ प्रणय। बात बहुत कुछ मिलती थी। लेकिन कुछ निन्दा थी—जिस प्रेम से कवि स्वर्ग से गिर जाता है—उसकी। काव्य की प्रेमिका का उसमें वही प्रेम दर्शाया गया था। सुपर्णा चौंकी। फिर संयत हुई और नियमित रूप से 'तारा' पढ़ने लगी।

एक साल बीत गया। अब सुपर्णा हिन्दी में मजे में लिख लेती है। मोहन से उसका हाड़-हाड़ जल रहा था। एक दिन उसने पातिव्रत्य पर एक लेख लिखा। आजकल के छायावाद के सम्बन्ध में भी पढ़ चुकी थी और बहुत कुछ अपने पति से सुन चुकी थी। काशी हिन्दी के सभी वादों की भूमि है। प्रसाद काशी के ही हैं। उनके युवक पाठक शिष्य अनेक शास्त्रियों को बना चुके हैं। पं० गजानन्द शास्त्री गंगा नहाते समय कई बार तर्क चुके हैं, उत्तर भी भिन्न मुनि के भिन्नमत की तरह अनेक मिल चुके हैं। एक दिन शास्त्रीजी के पूछने पर एक ने कहा—"छायावाद का

अर्थ है शिष्टतावाद ; छायावादी का अर्थ है सुन्दर साफ़ वस्त्र और शिष्ट भाषा धारण करनेवाला ; जो छायावादी है, वह सुवेश और मधुरभाषी है; जो छायावादी नहीं है वह काशी के शास्त्रियों की तरह अँगोछा पहननेवाला है या नंगा है।" दूसरे दिन दो थे। नहा रहे थे। शास्त्रीजी भी नहा रहे थे। "छायावाद क्या है?"—शास्त्रीजी ने पूछा। उन्होंने शास्त्रीजी को गंगा में गहरे ले जाकर डुबाना शुरू किया, जब कई कुल्ले पानी पी गये, तब थोड़ा; शिथिल होकर शास्त्रीजी किनारे आये, तब लड़कों ने कहा—"यही छायावाद!" फलतः शास्त्रीजी छायावाद और छायावादी से मौलिक घृणा करने लगे थे, और जिज्ञासु षोड़शी प्रिया को समझाते रहे कि छायावाद वह है, जिसमें कला के साथ व्यभिचार किया जाता है तरह-तरह से। आइडिया के रूप में, सुपर्णा जैसी ओजस्विनी लेखिका के लिए इतना बहुत था। आदि से अन्त तक उसके लेख में प्राचीन पतिव्रतधर्म और नवीन छायावादी व्यभिचार प्रचारक के कण्ठ से बोल रहा था। शास्त्रीजी ने कई बार पढ़ा और पत्नी को सती समझकर मन ही मन प्रसन्न हुए। वह लेख सम्पादकजी के पास भेजा गया। सम्पादकजी लेखिकामात्र को प्रोत्साहित करते हैं, ताकि हिन्दी की मरुभूमि सरस होकर आबाद हो, इसलिए लेख या कविता के साथ चित्र भी छापते हैं। शास्त्रिणीजी को लिखा। प्रसिद्धि के विचार से शास्त्रीजी ने एक अच्छा-सा चित्र उतरवाकर भेज दिया। शास्त्रीजी का दिल बढ़ गया, साथ उपदेश देनेवाली प्रवृत्ति भी।

इसी समय देश में आन्दोलन शुरू हुआ। पिकेटिङ्ग के लिए देवियों की आवश्यकता हुई—पुरुषों का साथ देने के लिए भी।

शास्त्रिणीजी की मारफ़त शास्त्रीजी का व्यवसाय अब तक भी न चमका था। शास्त्रीजी ने पिकेटिङ्ग में जाने की आज्ञा दे दी। इसी समय महात्माजी बनारस होते हुए कहीं जा रहे थे, कुछ घन्टों के लिए उतरे। शास्त्रीजी की सलाह से, एक ज़ेवर बेचकर, शास्त्रिणीजी ने दो सौ रुपये की थैली उन्हें भेंट की। तन, मन और धन से देश की सेवा के लिए हुई इस सेवा का साधारण जनता पर असाधारण प्रभाव पड़ा। सब धन्य-धन्य कहने लगे। शास्त्रिणीजी पूरी तत्परता से पिकेटिंग करती रहीं। एक दिन पुलिस ने दूसरी स्त्रियों के साथ उन्हें भी लेकर एकान्त में, कुछ मील शहर से दूर, सन्ध्या समय, छोड़ दिया। वहाँ से उनका मायका नज़दीक था। रास्ता जाना हुआ। लड़कपन में वहाँ तक वह खेलने जाती थीं। पैदल मायके चली गईं। दूसरी देवियों से नहीं कहा, इसलिए कि ले जाना होगा और सब के लिए वहाँ सुविधा न होगी। प्रातःकाल देवियों की गिनती में यह एक घटीं, सम्वाद पत्रों ने हल्ला मचाया। ये तीन दिन बाद विश्राम लेकर मायके से लौटीं, और शोकसन्तप्त पतिदेव को और उच्छृङ्खल रूप से बड़बड़ाते हुए सम्वादपत्रों को शान्त किया—प्रतिवाद लिखा कि सम्पादकों को इस प्रकार अधीर नहीं होना चाहिए।

आन्दोलन के बाद इनकी प्रैक्टिस चमक गई। बड़ी देवियाँ आने लगीं। बुलावा भी होने लगा। चिकित्सा के साथ लेख लिखना भी जारी रहा। यह बिलकुल समय के साथ थीं। एक बार लिखा—'देश को छायावाद से जितना नुक़सान पहुँचा है, उतना गुलामी से नहीं।' इनके विचारों का आदरणीय-राजनीतिज्ञों में क्रमशः ज़ोर पकड़ता गया। प्रोग्रेसिव राइटर्स ने भी

बधाइयाँ दीं और इनकी हिन्दी को आदर्श मानकर अपनी सभा में सम्मिलित होने के लिए पूछा। अस्तु, शास्त्रिणीजी दिन पर दिन उन्नति करती गईं। इस समय नया चुनाव शुरू हुआ। राष्ट्रपति ने कांग्रेस को वोट देने के लिए आवाज़ उठाई। हर जिले से कांग्रेस उम्मीदवार खड़े हुए। देवियाँ भी। वे मर्दों के बराबर हैं। शास्त्रिणीजी भी जौनपुर से खड़ी होकर सफल हुईं। अब उनके सम्मान की सीमा न रही। एम० एल० ए० हैं। "कौशल" में उनके निबन्ध प्रकाशित होते थे। लखनऊ आने पर, "कौशल" के प्रधान सम्पादक एक दिन उनसे मिले और "कौशल" कार्यालय पधारने के लिए प्रार्थना की। शास्त्रिणीजी ने गर्वित स्वीकारोक्ति दी।

"कौशल" कार्यालय सजाया गया। शास्त्रिणीजी पधारीं। मोहन एम० ए० होकर यहाँ सहकारी है, लेकिन लिखने में हिन्दी में अकेला। शास्त्रिणीजी ने देखा। मोहन ने उठकर नमस्कार किया। "आप यहाँ" शास्त्रिणीजी ने प्रश्न किया। "जी हाँ," मोहन ने नम्रता से उत्तर दिया—"यहाँ सहायक हैं।" शास्त्रिणी-जी उद्धत भाव से हँसीं। उपदेश के स्वर से बोलीं—"आप गलत रास्ते पर थे!"

---

# क्या देखा

प्रेस की बगल में थाना है जहाँ शान्ति के ठेकेदार रहते हैं। हिन्दू-मुसलमानों की एकता के दृश्य कोई आँखें खोल कर देखना चाहे तो जब चाहे, हमारे पच्छिम वाले झरोखे से झाँक कर देख ले। यह अनन्य प्रेम हम सुबह-शाम हमेशा देखा करते हैं। तारीफ़ तो यह कि वह प्रेम केवल मनुष्यों में नहीं, वहाँ के पशु-पक्षियों में भी है। हिन्दुओं के पालतू कुत्ते और मुसलमानों की मुर्गियाँ भी प्रेम करती हैं। उनका द्वेषभाव बिलकुल दूर हो गया है। वहीं पीपल के पेड़ के नीचे एक छोटे से चबूतरे पर भगवान भूतनाथजी स्थापित हैं। चार चावल चढ़ाकर चक्रवर्ती बनने के अभिलाषी शिवजी के अनन्य भक्त हिन्दुओं में से हर एक चार-चार चवालीस चावल तो जरूर चढ़ाता है, और श्रद्धेय शिवजी को अपने पञ्जों में फाँस कर—जैसे नीचे वाले पर ऊपरवाला साथ हफ्ते के सवारी कसता है, मुर्गियाँ शिवजी पर चढ़ाये चावल चुगा करती हैं और मारे आनन्द के सिर उठा कर 'कुकड़ूँकूँ' की हर्षध्वनि से हिन्दुओं को चक्रवर्ती ( चक्की में पिसने-वाला ) बना देने के लिये खुदा से दुआ माँगती हैं।

मुझे रात को नींद नहीं आई। सुबह को बिस्तर पर से उठकर चारपाई की बग़ल में मेज़ के सहारे बैठा हुआ आप बीती नई घटना पर बड़े ग़ौर से विचार कर रहा था। वह घटना बड़ी लम्बी-चौड़ी थी, और शृंगार से बीभत्स तक प्रायः सभी रस उसमें आ गये थे। सोचने लगा—

"उसका प्रेम सच्चा है या झूठा? उसने कहीं प्रेम की नक़ल तो नहीं की? परन्तु क्यों फिर उसने अपने पीछे मर मिटनेवाले—पसीने की जगह खून की नदियाँ बहानेवाले बड़े-बड़े करोड़पतियों को उस दिन टके सा जवाब दे दिया?—वे बेचारे अपना सा मुंह लेकर लौट गये। अगर वह वेश्या है तो वह उसी की क्यों न हुई जिसके पास धन है? परन्तु—यह किसी दुश्मन की कारस्तानी भी हो सकती है कि मुझे फँसाने के लिये उससे सध कर यह जाल रचा हो? लेकिन उसकी भरी हुई आवाज़ में बनावट नहीं थी—त्रिया चरित्र का स्वर नहीं बज रहा था। कुछ हो, मैंने जिस शान पर स्त्री का मुंह देखने से इन्कार कर दिया है, उसे अन्त तक ज़रूर निभाऊँगा। बुरा हो इस साहित्य-सौन्दर्य का जिसके फेर में पड़कर कवि सुन्दरलालजी के साथ मुझे वेश्यालय जाना पड़ा और सौन्दर्योपासना की प्रथम पूजा मैंने एक वेश्या के चरणों पर अर्पित की!"

इतने में 'कुकड़ूँ कूँ' के कर्कश नाद ने कान ऐंठ-से दिये। चौंक पड़ा, विचार का सिलसिला टूट गया।

( २ )

दस बजते बजते सुन्दरलालजी की भेजी हुई एक चिट्ठी मिली। चिट्ठी उनका नौकर मेज़ पर रख गया था। मालूम हुआ

कि चिट्ठी मेरी नहीं, उनकी है; कारण से मेरे पास भेजी गई है। पत्र की इबारत इस तरह है—

१३, न्यू स्ट्रीट, कलकत्ता
३–९–'२३

प्रिय सुन्दरजी,

आज शाम को आप अपने मित्र को लेकर ज़रूर आइये; आपके मित्र वही जो उस दिन, बुध को, आये थे। ज़ियादा और क्या लिखूँ—

आपकी
हीरा

बस इतने ही से, पत्र के बाहरी समाचार के सिवा उसका अन्दरूनी मतलब समझ में नहीं आया। सिर पर सन्देह का भूत सवार था ही, लगा विचार की सीधी-टेढ़ी गलियाँ झाँकने। मैंने लाख प्रयत्न किये, पर इस बाग़ी से मेरी एक न चली; और चलती भी कैसे? सवार तो वही था न? मैं तो उस वक़्त किराये का टट्टू ही बन रहा था। अगर सौन्दर्योपासना की शरण लेता और उस देवी की भेंट—घड़ी भर का मोजरा सुनना कबूल करता तो पहरों की उधेड़बुन में पड़ा अब तक हैरान न होता; पर इज़्ज़त का ख़याल अङ्गद की तरह पैर जमाये रास्ता रोके हुए था। हठी मन बार बार कह उठता था—'असम्भव क्यों है? सौन्दर्योपासना और ब्रह्मचर्य-पालन दोनों एक साथ क्यों नहीं निभ सकते?' विरोधाभास कहता था—'तो फिर चलो, सुनो मुजरा, डरते क्यों हो?—अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अङ्ग।' दुश्मनों की शिकायत का ख़याल और महिलाओं की मर्यादा रखने की

आदत पीछे हटाते थे तो साहित्य, सङ्गीत, कला, कौशल, रूप, लावण्य, अङ्गों की चारुता और मनोभावों की विशदता, सौन्दर्य का सारा परिवार लालच में फँसाकर लगाम ढीली कर देता था और बढ़ने का इशारा करता था। इस मौक़े पर रामायण की अच्छी-अच्छी जितनी चौपाइयाँ याद थीं, घोख डालीं, पर असर उनका कुछ न हुआ। संस्कार महाराज मन के चर्खे पर सूत-जैसा कात रहे थे, गुनगुनाहट की तरफ़ ध्यान नहीं दिया। अन्त को यही सूझा कि चलकर सुन्दरलालजी का सहारा माँगूँ; हाथ लगा देंगे बेड़ा पार हो जायगा, नहीं तो ढोंगी करवट है ही।

नंगे सिर क्वार की कड़ी धूप बरदाश्त करते हुए किसी तरह मैंने मील भर रास्ता तै कर डाला। सुन्दरलालजी पुस्तकालय में बैठे हुए कुछ लिख रहे थे। मुझे देखते ही क़लम रख दिया और मुस्कराते हुए कहा, "इतनी जल्दबाज़ी? अभी तो पूरे छः घन्टे और इन्तजार करना है।"

"बात क्या है सुन्दरलालजी, मेरी कुछ समझ में नहीं आता।" मैं एक साँस में कह गया, "इससे मेरी ऐसी कोई जान पहचान नहीं, क्यों यह इतना मेरे पीछे पड़ रही है! मुझे बचाइये।"

"अजी, वह बाघ है जो खा जायगी? बुलाया है तो ज़रा देर मोजरा सुन लो। इससे चरित्र में धब्बा न लग जायगा। यहाँ सभी ऐसा करते हैं और साहित्य-सेवा के लिये यह आवश्यक विषय है।"

"नहीं, आप मुझे उसके पञ्जे से बचाइये।"

"ढोंग न करो। न जाओ, बस। यों कालिदास से लेकर अब तक जितने अच्छे कवि हुए सब के लिये, कहते हैं जब साहित्य की

बीमारी बढ़ी दवा एक यही रही जिससे कुछ फ़ायदा पहुँचा। कल के छोकड़े हो, साहित्य का परिणाम बाद को समझोगे।"

कुछ उत्तर देना घाव को ताज़ा करना था। मैं लौट आया।

( ३ )

ठीक समय पर सुन्दरलाल हीरा के मकान पहुँच गये। बैठक में कई कुर्सियाँ रक्खी थीं, एक पर बैठ गये। बाँदी हीरा को खबर देने के लिये लचकती हुई दूसरे कमरे में गई। दीवार पर कई चित्र टँगे थे, प्रायः सभी हीरा के, नाचते गाते समय के। एक चित्र मर्दाने वेश का भी। सुन्दरलाल नज़र गड़ाये हुए उसे देखते और अपने नोट बुक में कुछ नोट करते रहे। जान पड़ा, कविता के लिये सामग्री संग्रह कर रहे हैं।

बाँदी से आवश्यक बातें पूछकर हीरा बाहर बैठक में आई। सुन्दरलाल का आग्रह आँखों के रास्ते निकलकर हीरा के मुँह पर छा गया। सुन्दरलाल के मन की कामनीय कल्पनाएँ अपनी-अपनी बारी से हीरा के स्वागत के लिये गईं, परन्तु जेठ के आगे अचानक पड़ी हुई बहू की भाँति लाज से घूँघट में मुँह मूँद कर चली आईं। सुन्दरलाल पतिङ्गे की तरह उस आग में जलना चाहते थे, पर शीशा लगा था, घुस न सकते थे।

हीरा तीन मिनट तक चुपचाप खड़ी रही, जैसे उनके वार झेलने के लिये पहले से तैयार होकर गई थी। समुद्र को इतना शान्त देखकर मल्लाह समझ गये कि जल्द तूफ़ान उठने वाला है। मेघों का गरजना बन्द हुआ, हवा धीमी पड़ी, सटे बादलों में पहले का आसमान देखने का ज़रा-सा छेद नहीं रहा; लोग समझ गये, वर्षा ज़ोरों की होगी।

"सुन्दरलाल जी,"

इतना कहकर हीरा सँभल गई। भीतर का भाव शब्दों से बाहर हुआ चाहता था। उसे भाव पर अधिकार रखने की आदत थी। कितने मूर्खों को सहाने के नाम से सोहनी सुनाई और इनाम लिया। सहज स्वर से पूछा, "आपके मित्र नहीं आये? न आग्रह प्रकट हुआ न लापरवाही। उसने सुन्दरलाल को जाँच करने का मौक़ा भी नहीं दिया, झट पानदान से पान निकाल कर पहले की तरह बनावटी भाव दिखलाते हुए, उनकी तरफ़ हाथ बढ़ाया। पान लेकर सुन्दरलाल अपने श्रेष्ठताभिमान में फूल कर, बोले "कहते थे, 'हम बदनामी से डरते हैं।' हम ऐसे मनुष्य को मनुष्य नहीं समझते—मामूली पढ़ा आदमी!"

हीरा की दृष्टि का सुन्दरलाल के अङ्गों में कड़ा पहरा था, जैसे झूठ में सच की तलाश करना चाहती थी। उसने 'बदनामी को ध्यान से सुना। फिर अनमनी हो गई, थोड़ी देर के लिये।'

सुन्दरलाल—"गाना कब से होगा? अभी तो साजिन्दे भी नहीं आये।"

हीरा—"शायद आज गाना न होगा। साजिन्दे पुखराज के घर गये हैं। मेरी तबियत अच्छी नहीं। आपके मित्र ऐसे हैं, मैं जानती तो हरगिज उन्हें न बुलाती। उस दिन कहीं से भटक कर आ गये थे जान पड़ता है। कहाँ रहते हैं?"

सुन्दरलाल—यहीं, कलकत्ते में।

हीरा—तो वहीं रहते होंगे जहाँ कूड़ा फेंका जाता है। कहकर हीरा मुस्कराई।

सुन्दरलाल—नहीं, रहते तो बड़ी अच्छी जगह हैं, ३ ग्रे स्ट्रीट में, उनका स्वभाव ही ऐसा है ।

हीरा—कह तो नहीं सकती, पर मेरी तबियत आज अच्छी नहीं; लेटी थी, आपके आने से उठकर चली आई ।

सुन्दरलाल—अच्छा अच्छा, आप आराम कीजिये ।

सुन्दरलाल को बिदा करने में हीरा की तरफ़ से कोई त्रुटि नहीं हो पाई । जब तक वे आँख की ओट नहीं हो गये, हीरा खिड़की के पास खड़ी रही । उनके चले जाने पर ३ ग्रे स्ट्रीट लिख लिया ।

( ४ )

एक अरसा गुजरा । सुन्दरलाल के मित्र बीमार पड़े थे । दो दिन से अच्छे हैं । पलंग पर बैठे विचार में गोते लगा रहे हैं—

"बीमारी के वक्त बुलाने पर भी सुन्दरलाल नहीं आये । नौकर जाता था तो बहाना बना कर टाल देते थे । अगर नाराज़ हों तो वजह नहीं समझ में आती । टेढ़े पड़ने का कोई और कारण हो तो अच्छा हो लूँ, फिर पूछ लूगा । अभिन्न हृदय मित्र, दुःख के दिनों में मुँह फेर लें, चिन्ता की बात है । परन्तु मेरी बीमारी के समय से रोज़ शाम को जो नौजवान सिक्ख अमर सिंह आता है, इरादे का पक्का और सच्चा मित्र जान पड़ता है । शाम को रोज़ डाक्टर बुला लाता था, नुस्खा लेकर बाज़ार से दवा ले आता था, ठीक समय पर पिलाने के लिये नौकर को कितना समझाता था और बातचीत से मेरा दिल बहलाये रहता था—कितनी खबरें सुनाता था । जान पड़ता है, सम्वाद-पत्र बहुत पढ़ता है । शाम हो गई, आता होगा ।"

मालिक की गम्भीर मुद्रा देख कर भजना को ख़बर देने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। एक कदम बढ़ता था तो दस बढ़ जाने के समय तक उसी जगह खड़ा मालिक का मुँह ताकता रहता था। दिल मजबूत करके कुछ बढ़ता था तो फिर ठिठक कर ठहर जाता था। बाहर अमर सिंह आज्ञा की इतनी प्रतीक्षा नहीं कर सके। बारीक़ आवाज़ से जवांमर्दी का नारा बुलन्द करते हुए बोले—"क्यों भजना, बाबू जी सोते हैं क्या? सोते हों तो खींच ले पकड़ कर चद्दर। अभी आज पथ्य दिया गया और ज़रा देर नहीं बैठे कि हाज़मा न बिगड़े, लेट गये।"

इस आवाज़ ने चिन्ता के द्वार की ज़ञ्जीर इस जोर से खट-खटाई कि चिन्ता देवी को कान के सूराख से बाहर निकलना पड़ा। चौंक कर मालिक ने भजना की गजेन्द्र-गति देखी, बिना पूछे नहीं रहा गया—"क्यों रे, पैर रखता है या जमीन नापता है, यह अगवानी की चाल कब से सीखी?" भजना के मन में आया, कहे—"जब से आपको ख़याली पुलाव पकाने का शौक़ हुआ," लेकिन सभ्य-समाज के शिष्टाचार-पालन का उसे कुछ अभ्यास पड़ गया, इसलिये उजड्ड आज़ादी के अलफाज़ थूक के घूंट के साथ उसे गले के नीचे उतारने पड़े।

उसने कहा—"अमर सिंह जी देर से खड़े हैं।"

"देर से? उन्हें अब रोकना नहीं।"

( ५ )

अमर सिंह सिक्ख तो हैं, पर कद के उतने लम्बे नहीं। इन्हें हिन्दुस्तान के दूसरे लोग तो नहीं, पर सिक्ख ज़रूर बौना कहेंगे। इनके कद की लम्बाई बालों ने ले ली है। अगर सिक्ख इनसे

बालिश्त भर ऊँचे निकलेंगे, तो इनके बाल अपनी बिरादरी से सानी नहीं रखते, कम-से-कम पूरे दो हाथ ज्यादा लम्बे निकलेंगे।' बहादुर नौजवान को बालों के बोझ से तकलीफ मिलती है या नहीं, इसकी मैंने तहक़ीक़ात नहीं की, पर यह जरूर है कि बालों पर डटे रेशमी साफ़े के नीचे चाँद का टुकड़ा गोरा-गोरा मुखड़ा दबता नजर आता है। साफ़ा क्या, पूरा थान लपेट लिया है। आते ही उन्होंने पूछा, क्यों साहब, आप कैसे हैं?

"अच्छा हूँ; आपको किन शब्दों में धन्यवाद दूँ? ऐसा शब्द नहीं मिलता जिससे कृतज्ञता प्रकट करूँ; आपने मुझे सदा के लिये मोल ले लिया।"

"रखिये तह कर। चार दिन में भूल जाइयेगा। फिर ऐसे मुंह फेर लीजियेगा जैसे कभी की पहचान न रही हो। सच कहता हूँ, अपनी इतनी उम्र में दुनिया के बहुत रङ्ग देख चुका। आप परमात्मा के कृतज्ञ हूजिये जिनकी कृपा से खड़े हुए।"

"परमात्मा के कृतज्ञ सभी हैं—भलाई में भी और बुराई में भी। सच पूछिये तो परमात्मा की दोहाई देना एक चाल हो गई है, जैसे तकिया-कलाम होता है। परमात्मा को किसी ने देखा नहीं, सिर्फ़ सुना है; सुनते सुनते लोग संस्कार की रस्सी में बँध गये हैं और बात-बात में परमात्मा की रट बाँधते हैं। मैं इसे ऐब समझता हूँ। यों, निर्विकार ईश्वर मानना पड़ता है, पर उसे किसी की बधाई की क्या परवा? जहाँ भले-बुरे का प्रसङ्ग है वहाँ परमात्मा को घसीटना अन्याय है; भले और बुरे में किसी का हाथ है तो मनुष्य का, निन्दा और प्रशंसा का पात्र मनुष्य ही बनाया जा सकता है।"

"आप बड़े विद्वान जान पड़ते हैं। परमात्मा की बातचीत में दख़ल देना मेरे लिये मूर्खता का परदा फाश करना है; पर इसमें सन्देह नहीं कि आदमी आज जो कुछ कहता है, कल उससे बदल जाता है। क्या इस विषय को लेकर आपके दर्शनकारों ने बाल की खाल नहीं निकाली? लेकिन रहने दीजिए, आप बोलने लगते हैं तो घण्टों दम नहीं लेते। अभी आप कमज़ोर हैं, दिमाग में गर्मी छा जायगी। हाँ, उस दिन आपने क्या नाम बतलाया था?—भूल गया।"

"एक नाम भी आप बार बार भूल जाते हैं।"

"नाम है या संस्कृत शब्दों की पंचलड़ी! इसीलिये मैं अपने दिये नाम से आपको पुकारा करता हूँ।"

"आपका पंचलड़ी शब्द भी अच्छा रहा! ज़रा कुछ जनानापन आ गया है।"

"आप में मर्दानापन भी है? जनानापन की गवाही तो आपकी शक्ल देती है। आपके नाम में जितना मर्दानापन है या कहिये जैसा भारी-भरकम नाम है, वैसा ही जनानापन आपके चेहरे में लोगों को मिलता है।"

"आप नहीं समझे, इसे लावण्य कहते हैं।"

"लेकिन इसकी ज़रूरत तो स्त्रियों को होती है, मर्दों को तो जवाँमर्दी चाहिये।"

"जवाँमर्दी से आपका मतलब कसाइयों की सी सूरत बना लेने से तो नहीं? अगर ऐसा है तो आप मतलब नहीं समझे। जिसके मन में जैसी भावनाएँ होती हैं, उसका रूप वैसा ही बन जाता है। अगर मेरे चेहरे पर कठोरता के चिह्न नहीं नज़र आते

तो समझना चाहिये, मैं मनुष्यता के बाधक विचार नहीं किया करता हूँ जिसका प्रकाश मेरे चेहरे पर रहता है।"

"अच्छा अपना नाम बताने के साथ यह भी बताने की कृपा कीजिये कि वे कैसी कमनीय कल्पनाएँ हैं। जिनकी उधेड़बुन में आपने अपनी ज़नाना सूरत बना डाली?"

"मेरे पिता संस्कृत के भारी पण्डित थे। उन्होंने मेरा नाम जानकी-वल्लभ-शरण-बिहारी रक्खा। पर लोग मुझे बिहारी ही कहते हैं।"

"आप हैं भी बिहारी।"

"हाँ, मुझे बिहारी होने का गर्व है जैसे बङ्गालियों को बङ्गाली होने का, मद्रासियों को मद्रासी होने का—"

"अर्थात् विशेषता कुछ नहीं रही, जैसे किसी को कुछ होने का।"

"खैर, मैं देखता हूँ, हर मनुष्य में, बल्कि हर जीव में प्रेम की धारा बहती है।"

"सो तो बहती है। आप देखते हैं, इतनी ज्यादती है या कहना चाहिये, आप बिहारी हैं इसलिये खास तौर से देखते हैं।"

"गम्भीर विषय में मज़ाक अच्छा नहीं। मैं उसी धारा में, उसी आनन्द में डूबा रहता हूँ।"

"मुझे विश्वास नहीं। मुझे जान पड़ता है, आप झूठ कह रहे हैं। आप उस सिद्धान्त की बात करते हैं जिसका प्रमाण आप नहीं दे सके।"

"क्यों, प्रमाण पर ही तो बहस छिड़ी; प्रमाण मुँह है।"

अमरसिंह ने मुस्कराकर आँख फेर लीं। कहा, "इसका प्रमाण

अपना मुँह नहीं हो सकता, दूसरे का हो सकता है।"

दोनों की मुस्कराती हुई आँखें एक हो गईं।

अमरसिंह ने कहा, "मैं आपको प्यारेलाल कहा करूँगा। बिहारी कहूँगा तो दूसरे फबतियाँ कसेंगे।"

उसी समय मेज़ पर निगाह गई। एक नई पत्रिका दिखी। उठा ली। माधुरी थी। अमरसिंह पन्ने उलटने लगे।

प्यारेलाल ने पूछा, "माधुरी आपके यहाँ नहीं आती?"

"आती है।"

"फिर क्यों पन्ने उलट रहे हैं?"

"एक कविता निकली है, आपको दिखाने के लिये।"

"कौन सी।"

"यह, यही तो एक कविता इस बार छपी है।"

"हाँ, बड़ी अच्छी है। मैं पढ़ चुका हूँ।" प्यारेलाल ने अमरसिंह की खोली कविता पर निगाह डालते हुए कहा।

"कविता वियोग-शृंगार पद है।" अमरसिंह ने सीधे तौर से कहा।"

"नहीं, मेरा खयाल है, कवयित्री के हृदय के भाव हैं, तभी इतनी चोट करते हैं।"

"मेरी तो ऐसे रोने-धोने से सहानुभूति नहीं होती।"

"पर चीज़ बहुत बढ़िया बन पड़ी है। भाव बहुत सही उतरा है। शब्द की कहीं कोई फाँस नहीं। मैं एक आलोचक की दृष्टि से कहता हूँ।"

"इस मामले में मेरे आलोचक की दृष्टि आप नहीं समझते।"

"आपको व्यङ्ग्य पसन्द है?"

"पसन्द मुझे अस्ल में सब कुछ है या कुछ नहीं। व्यङ्ग्य पकड़ में आता भी है?"

"क्यों नहीं?"

"मैं देखता हूँ, नहीं आता।"

"यानी मैं व्यङ्ग्य नहीं समझता?"

"यानी मुझे साफ साफ कहना चाहिये कि आप सर्वज्ञ हैं।"

"नहीं, सर्वज्ञता की बात नहीं, पर भले बुरे की पहचान हो जाती है, यह रचना प्रथम श्रेणी की है।"

"अच्छा, पत्रिका मुझे दे दीजिये, मैं अपने एक प्रोफेसर से पूछूँगा।"

"अभी तो आपने कहा था कि आपके पास पत्रिका आती है?"

"पर मैं साथ तो नहीं ले आया? यहाँ से चलते समय प्रोफेसर साहब से मिलता जाऊँगा।"

"अर्थात् मेरी बात पर आपको विश्वास नहीं? आप क्या मालूम करना चाहते है—छन्द, रस, अलङ्कार, ध्वनि?"

"यानी आप ख़ुद सब कुछ बतलाएँगे, पर पत्रिका नहीं देंगे।"

"अभी मैंने पूरी पढ़ी नहीं।"

"अच्छा, इसकी लेखिका हीरा कौन हैं?"

"प्यारेलाल कसमसाए। अमरसिंह निगाह गड़ाये देखते रहे। कुछ देर बाद कहा, "अच्छा पढ़ लीजिये, फिर ले जाऊँगा।"

प्यारेलाल अनमन थे। अमरसिंह बिदा हुए।

( ६ )

कई दिनों से प्यारेलाल अच्छे हैं। शाम को अमरसिंह आते हैं, गपशप करते हैं, चले जाते हैं। प्यारेलाल अमरसिंह की सेवा की जितनी तारीफ करते थे, आजकल उनकी भोली सूरत पर उतने ही ललच पड़े हैं। अमरसिंह का चेहरा उनके तस्वीर से मिलता-जुलता है। पहले वे अमरसिंह की सेवा को जिस पवित्रता से देखते थे, अब चेहरे को उसी पवित्रता के विचार से देखते रहते हैं। उन्हें बड़ी तृप्ति मिलती है, एक प्रकार की शक्ति भी ऊपर को उठती हुई उन्हें ऊँचा उठा देती है। उन्हें यह मालूम नहीं हुआ कि इस तरह पवित्रता-दर्शन से कामना के चेहरे पर पड़ा नकाब उठता गया। वह कामना भयङ्कर न होकर भी भयङ्कर थी। उससे खतरे में पड़ने की संभावना थी। वह जान-बूझकर आसक्ति से मित्रता थी। उससे ब्रह्मचर्य की जड़ भी कटती थी। पर प्यारे-लाल यह नहीं समझ सके। वे रूप की लालसा, सौन्दर्य के मोह को साहित्य समझे, जिससे एक दुर्बल हृदय बाहर खिंचा आ रहा था, आँखों की राह से निकलकर एक अतृप्त अभिलाषा बाहर की वस्तु पर सर पटक रही थी। जब दृष्टि सुन्दर से लिपटती है, तब कुत्सित से हट जाती है उसे अवज्ञा का धक्का मारती हुई। यही भ्रम है। प्यारेलाल यह नहीं समझे। वे अमर सिंह को जितनी देर के लिये पाते थे, उतनी देर तक चाह भरी दृष्टि से उन्हें देखते रहते थे; कभी आँखों की, कभी होठों की, कभी हृदय में अमृत घोल देनेवाली बातचीत की, और कभी प्रकृति के कोमल हाथों से सजाये उनके हर अंग से निकलते लावण्य की मन-ही-मन प्रशंसा करते थे।

कल शाम को अमरसिंह नहीं गये। न जाने का कोई कारण नहीं था। मित्रता गहरी थी। प्यारेलाल बैठे इन्तज़ार करते सोचते रहे, कहीं अटक गये होंगे, आते होंगे। पर दस बजे रात तक अमरसिंह नहीं गये। हताश होकर भोजन-पान करके प्यारे-लाल लेटे। देर तक नींद नहीं आई।

सुबह को अख़बारवाला दैनिक स्वतन्त्र दे गया। शुरूवाले पृष्ठ पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था—

"ईडन गार्डन में हत्याकाण्ड"

"एक साथ दो खून"

"मिस्टर हाग के कलेजे में छुरी भोंकी गई और हीरा के सिर में गोली लगी।"

हीरा नाम पढ़ते ही प्यारेलाल चौंक पड़े। बड़ी उत्सुकता मजमून को पढ़ने की हुई। पढ़ने लगे। मजमून थोड़ा था। लिखा था, "मिस्टर हाग ब्रौन एण्ड कम्पनी के मैनेजर थे और हीरा १३, न्यू स्ट्रीट, कलकत्ता की प्रसिद्ध बाई। अब तक इतना ही पता चला है। खून क्यों हुआ, पुलिस इसकी तहकीक़ात कर रही है। स्त्री-पुरुष के खून में दोनों के चरित्र का अनुमान किया जाता है। अनुमान से बलातकार की गवाही मिलती है, क्योंकि हीरा के हाथ में छुरी थी। विपत्ति में पड़ कर जान पड़ता है, उसने छुरी चलाई। घायल होने पर, मरने से पहले, साहब ने फायर किया। तमंचा सात गोलियों का है। एक गोली छूटी, छः भरी हुई मिलीं।"

पढ़ने के साथ प्यारेलाल के सिर से पैर तक, नस-नस में बिजली दौड़ने लगी। सँभलने की लाख कोशिशें कीं, पर एक न

चली। समाचार की नींव पर मनगढ़न्त की तरह तरह की दीवारें उठाते ढहाते रहे। मुख पर भिन्न-भिन्न भाव की रेखा खिंचती रही। पर कोई निश्चय नहीं होता था। उनके अपने एक भाव में मन बालक की तरह मचल रहा था। अन्तस्तल की व्यक्त और अव्यक्त, सुप्त और जाग्रत सभी प्रकार की वृत्तियाँ हीरा की मृत्यु का विरोध कर रही थीं। उमड़ते उच्छ्वास में कोई उत्तर नहीं मिल रहा था। साहब के अत्याचार पर प्यारेलाल को विश्वास हो गया। उन्होंने निश्चय किया, हीरा निर्दोष थी। रह रह कर हीरा के आचरण से उन्हें गौरव का अनुभव होता था।

इसी समय नौकर एक खत लेकर आया। प्यारेलाल पढ़ने लगे, लिखा था—

"पत्र पाते ही मिलो। कैसा ही काम हो, छोड़कर पत्रवाहक के साथ चले आओ। अधिक और क्या ?—

तुम्हारा
अमरसिंह"

घोर घटाओं से घिरी अँधेरी रात में राह चलने के लिये चिट्ठी बिजली का काम कर गई लेकिन उसका कौंधना बन्द होते ही पहले से चौगुना अँधेरा आँखों के सामने छा गया।

प्यारेलाल जिस सादे पहनावे से मकान में थे, उसीसे चल पड़े। आगे आगे पत्रवाहक, पीछे पीछे प्यारेलाल। सड़कें और गलियाँ पार करते हुए न्यू स्ट्रीट पर पहुँचे। मोड़ पर न्यू स्ट्रीट पढ़कर प्यारेलाल एक दफा सन्नाटे में आ गये। फिर सँभल कर आगे बढ़े। फिर पत्रवाहक को हीरा के मकान के अन्दर जाते देख कर प्यारेलाल बड़े तअज्जुब में आये। कुछ समझ में नहीं

आ रहा था। यन्त्र की तरह पैर रखते गये। एक दासी ऊपर से नीचे उतरी और प्यारेलाल को साथ ले गई।

( ७ )

चारों ओर सन्नाटा है। कमरे में उदासी की स्याही-सी फिरी हुई है। कुल खिड़कियाँ बन्द हैं। सारी सजावट पर काली चादर का एक गिलाफ़-सा पड़ा हुआ है। कौच पर एक युवक बैठा कुछ सोच रहा है।

प्यारेलाल कमरे में गये। सन्नाटे में प्यारेलाल की पिंडलियों में कंपकपी छुट गई। देह में ऐसी जड़ता समाई कि चेहरा उतर गया। प्यारेलाल को युवक ने एक दूसरे कौच पर बैठाया, फिर खुद भी बैठ गया।

प्यारेलाल—अमरसिंह ?

अमरसिंह—हाँ।

रोते हुए अमरसिंह का गला बैठ गया था। आवाज़ भारी थी। इसीसे शोक की सूचना मिलती थी। उनके दुःख से प्यारेलाल के हृदय में सहानुभूति नहीं आई। उन्हें सन्देह हुआ। हीरा की याद आई। कुछ देर सोचते रहे। साँस छोड़ते समय उनके विचार की समाप्ति हो गई या लड़ी टूट गई, हम नहीं कह सकते।

प्यारेलाल ने पूछा, "क्यों अमरसिंह, आज अखबार में पढ़ा, हीरा का खून कैसे हुआ ? और तुम भी यहाँ कैसे आये ? क्या हीरा से पहले की कोई जान-पहचान थी ?"

प्रश्नों में भाव-परीक्षा की तीव्र गति थी, पागल की नसों में

बहती रक्तधारा की तरह प्रबल। तट पर सिर पटकती तरङ्गों की तरह, श्रोता के मन में सन्देह के धक्के लगते थे। अमरसिंह को समझते देर नहीं लगी। वे बोले, "प्यारेलाल! (शोक की स्याही पर थोड़ी देर के लिये आँखों के एक कोने से दूसरे तक लज्जा की लाल रेखा खिंच गई)—ऐसे प्रश्न से तुम्हारा मतलब ?"

प्यारेलाल (सन्देह की दृष्टि से देखते हुए)—मतलब कुछ नहीं, यों ही पूछा। क्या तुम्हें बताने में एतराज़ है ?

अमरसिंह—अब जब वह है ही नहीं तब अकारण क्यों उसका प्रसङ्ग उठाते हो ?

प्यारेलाल कुछ उत्तेजित हो गये, कहा, "कैसी मित्रता कि मैं तुमसे एक बात पूछूं और तुम टालते जाओ"।

अमरसिंह—अच्छे समय मित्रता की आड़ लेते हो। तुम्हारी मेरी मित्रता से हीरा से सम्बन्ध ? तुन्हारी मित्रता मुझसे है या हीरा से थी ?

प्यारेलाल से कोई जवाब न दे आया।

अमरसिंह—मैंने सिर्फ़ एक दृश्य दिखाने के लिये तुम्हें बुलाया था।

प्यारेलाल—तुम तो ऐसे बदले—

अमरसिंह—मैं जमाने से अलग नहीं। जमाना बदला जाता है।

प्यारेलाल—अमरसिंह, तो क्या इस तरह मेरा अपमान करने के लिये मुझे बुलाया था ?

अमरसिंह—मेरी समझ में नहीं आता कि तुम्हारा अपमान कौन सा हो गया।

कहकर अमरसिंह मुस्कराये। प्यारेलाल के सिर से पैरों तक आग लग गई। झुँझलाकर बोले—किसका कहना आँख के सामने आया—"विश्वस्तं नाति विश्वसेत्।"

अमरसिंह—यह सहजोक्ति तुम मुझ पर क्यों लाद रहे हो? अच्छी तरह देखोगे तो अपने को इसका प्रमाण पाओगे।

अमरसिंह फिर मुस्कराये। मारे क्रोध के प्यारेलाल का चेहरा फिर लाल पड़ गया। गुस्से में आकर उठ पड़े और कहा, "अब मैं जाता हूँ। एक की जान गई, और तुम्हें शर्म तो है नहीं, उसके घर पर बैठकर हँसी उड़ाते हो। तुम्हारी मित्रता का मुझे अब पता चला।"

अमरसिंह—मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूँ कि तुम बात के एक ही धनी निकले। क्यों साहब उस दिन मैंने कहा था कि ये बातें भूल जायँगी। मतलब निकलने के बाद लोग मुँह फेर लेते हैं।

प्यारेलाल लज्जित हो गये। अमरसिंह ने हाथ पकड़कर उन्हें फिर बैठाला। आग्रह की कोमल दृष्टि मुख पर फेर दी। कुछ देर कमरे में सन्नाटा रहा। प्यारेलाल के हृदय में अमरसिंह और हीरा के नाम उठ उठ कर फिर खलबली मचाने लगे। एकाएक उत्तेजना बढ़ गई। प्यारेलाल ने अमरसिंह की कलाई पकड़ ली, परन्तु फिर न जाने क्या सोच कर छोड़ दी। आज ही प्यारेलाल को आग्रह की आन्तरिक पीड़ा का अनुभव हुआ था। पूछा, "अमरसिंह, तुम यहाँ कैसे आये? हीरा से क्या कोई पहले की जान-पहचान थी?"

अमरसिंह—हाँ, थी।

किसी ने प्यारेलाल का कलेजा पकड़ कर मसल दिया।

प्यारेलाल—कैसे हुई ?

अमरसिंह—उस समय वह कानपुर में रहती थी।

प्यारेलाल—कानपुर में कहाँ ?

अमरसिंह—मूलगंज में।

प्यारेलाल—क्या करती थी ?

प्यारेलाल की हालत ऐसी हो गई जैसे कोई भूली बात याद कर रहे हों।

अमरसिंह—करती क्या थी, पढ़ती लिखती थी। इसकी एक छोटी बहन थी शान्ता। पिता मालदार थे। कलकत्ते में भी कारोबार था। कुछ दिनों बाद पिता का देहान्त हो गया। माँ लड़कियों को कलकत्ते ले आईं। दोनों को गाना-बजाना भी सिखाने लगीं। रूप और सम्पत्ति दोनों के लोभ में लोग इन्हें बरबाद करने की सोचने लगे। ये बड़े लोग ही थे, समाज में जिनकी इज्जत है। छोटे लोग इनके आज्ञाकारी थे। यहाँ का इतिहास संक्षेप में समाप्त करता हूँ। इनकी माँ की भी अकाल मृत्यु हुई। सम्पत्ति नष्ट हो गई। हीरा के लिये धनिकों के जाल बिछने लगे। मुसीबत पर मुसीबत का सामना उसे करना पड़ा। उसने अपनी इज्जत बचाई। पर रोटियों के सवाल से बचाव नहीं हुआ। उसने परवा नहीं की। गाना बजाना जानती थी। नेक लड़की की तरह गाना गाकर रोटियाँ कमाने लगी। उसके बूढ़े उस्ताद उसके चरित्र के गवाह हैं और उसे मुसीबत के दिनों में राह दिखाते और बचाते भी रहे हैं। शान्ता की पढ़ाई जारी रही। वह बेथून कालेज की छात्रा थी।

अमरसिंह का गला भर आया। आँखों से आँसू टपकने लगे।

प्यारेलाल कुछ समझ नहीं सके कि शान्ता के प्रसङ्ग से अमरसिंह रोने क्यों लगे। पूछा—"छात्रा थी तो क्या अब पढ़ना छोड़ दिया है? बहन की इस घटना में उसे बड़ी चोट पहुँची होगी। क्या उसे मैं देख सकता हूँ?"

"नहीं।" आँसू पोंछते हुए अमरसिंह ने कहा, "आपको कुछ देर बाद सही हाल मालूम हो जायँगे। मैंने एक पत्र आपके लिये लिख रक्खा है। अपने डेरे चल कर पढ़ियेगा। और मेरी आज की अस्वाभाविकता के लिये क्षमा कीजियेगा।"

यह कह कर अमरसिंह ने एक पत्र प्यारेलाल को दिया। पत्र पढ़ने की उत्सुकता से प्यारेलाल जल्द जल्द बिदा हुए। अपने डेरे पहुँचने से पहले ही खोल कर पढ़ने लगे। लिखा था—

"प्यारेलाल,

मैं अपने को कृतार्थ समझती हूँ कि तुम मुझे चाहते हो। यहाँ तुम जिस अमरसिंह से मिले हो वह मैं हूँ। वहाँ तुमसे जो अमरसिह मिलते थे वह शान्ता थी। दम निकलते समय शान्ता ने घर के पते के साथ मेरा नाम कहा था। मतलब, वह मेरे मकान में रहती है। आगे अपना नाम और बाकी बातें कह नहीं सकी। बोली बन्द हो गयी। सम्वाद-पत्र की खबर के बाद मुझे देखकर, तुम चौंकोगे! सन्देह करोगे, इसलिये दुःख से मुझे अमरसिंह के कपड़े पहनने पड़े। कल सम्वाद-पत्र में सही खबर छप जायगी।'

तुम्हारी हीरा"

---

यह मेरी पहली कहानी है १९२१ ई० में 'मतवाला' के कई अङ्कों में निकली थी। यहाँ काट छाँट के साथ दी गई है। —'निराला'

# प्रेमिका-परिचय

( १ )

बाबू प्रेमकुमार कैनिंग कॉलेज, लखनऊ में बी० ए० क्लास के विद्यार्थी हैं। मेस्टन होस्टल में रहते हैं। इस समय लखनऊ की बादशाहत अँगरेजी हुकूमत में बदल गई है, पर उन्हें बादशाह-बाग़ की हवा लग रही है। चमन, बहार, गुल और बुलबुल के परिस्तान में पैर रखते, सैर करते हैं। उर्दू शायरी का अज़हद शौक़, इश्क का नाज़ उठाते हुए चलते, पलकों पर एक सदी पहले का स्वप्न। उर्दू के ख़ुद भी कुछ अशआर लिखे हैं। कभी-कभी हौज़ की बग़ल में बैठकर पढ़ते हैं। होस्टल के मुशायरों में सबसे ज्यादा चंदा देते, हिन्दी के ज्ञान में अक्षर-परिचय-भर, पत्रिका में शेर खोज-खोजकर पढ़ते हैं। तारीफ़ उसी पत्रिका की करते हैं, जो हिंदी अक्षरों में उर्दू के शेर छापती है। मीर, ग़ालिब, ज़ौक़ आदि के दीवान-के-दीवान बरज़बान याद, दाग़ को उस्ताद मानते हैं। होस्टल के छात्र उन्हें नव्वाब साहब कहते हैं। यों वहाँ दो-एक को छोड़कर सभी नव्वाब हैं, पर एक दर्जे में पाँच साल फेल

होकर शिकस्त न खानेवाले बाबू प्रेमकुमार इज्ज़त की सल्तनत में बढ़ गए हैं। घर के अमीर हैं, कहते हैं, तहज़ीब सीखने के लिये लखनऊ आए थे, चौक इसी मतलब से जाया करते हैं, इसीलिये किताबों को तलाक़ दे दिया है। सर में ऐंगल-कट इँगलिश-फ़ैशन बाल, पैरों में बूट, आज के यही दो चिह्न; बाक़ी अचकन, पजामा, टोपी, चाल-ढाल और गुलाबी उर्दू हिन्दोस्तानी एकेडमी की नेशनल ड्रेस और लिंगुआ-इंडिका से चस्पाँ होती हुई। अँगरेज़ी बंदरगाहों से दोस्तों को नव्वाबी गुलिस्तानों में लाकर छोड़ते और हर तरह हवा खिलाकर क़ुबूल करा लेते कि सिवा नव्वाबी सभ्यता के चिकारे के विश्व सभ्यता का कोई भी बाजा मनुष्य के गले से हूबहू नहीं मिल सकता, अँगरेज़ी कार्नेट तो गधे की धुधकार है। ऐसे गुणों से बाबू प्रेमकुमार छात्रों की आँख-आँख पर रहते, गले-गले से फिरते हैं। ख़ास बात यह कि क्लास की छात्राओं से, निषेध की ऊँची चारदीवार छायावादी ढंग से अनायास पार कर, प्रायः मौनालाप किया करते हैं, लिहाज़ा विद्यार्थी प्रतिक्षण इनकी तरफ देखने से विरत नहीं होते। छात्राओं की निश्चल मौन दृष्टि में छात्रगण अनेक प्रकार की चपलता सोच लेते हैं, और खुद-ब-खुद बातचीत के कच्चे सूत से बाबू प्रेमकुमार को मज़बूत बाँध देते हैं।

होस्टल में प्रेमकुमार की बग़ल में शंकर का रूम है। शंकर ब्राह्मण का लड़का है, अँगरेज़ी पढ़ता हुआ भी पीढ़ियों के संस्कारों की पूरी रक्षा करनेवाला। साबुन और सुर्ती का कार-खाना खोलकर पिता ने कई लाख रुपए पैदा किए हैं। पुत्र को

धर्म-रक्षा के साथ अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त करने को लखनऊ भेजा है। सुयोग्य पुत्र पिता की ही तरह धर्म की रक्षा में जितना पटु, खर्च में उतना ही कटु है। पीछे पूँछ-सी मोटी चोटी कई पेंच के बाद बाँधने में एक कौशल, खोलने पर बाल बल खाते हुए। कहता है, इलेक्ट्रिसिटी शरीर में प्रिज़र्व करने का सबसे पहले यह आर्यों का निकाला हुआ तरीका है। एक समय वह प्रेम-कुमार के साथ था। अब दो साल आगे, फाइनल एम० ए० में है। तीन साल से बाबू प्रेमकुमार के साथ था। अब दो साल से बाबू प्रेमकुमार इसे अपने रास्ते पर सभ्य करने का परिश्रम कर रहे हैं, पर यह अब तक सूरदास की काली काँवर सिद्ध हो रहा है। जिस प्रकार बाबू प्रेमकुमार मुसलमान-सभ्यता के ऊँचे फाटक से आदमियों के साथ जानवरों को निकालते रहते हैं, उसी प्रकार शंकर आर्य-सभ्यता के संकीर्ण दरवाज़े के भीतर ब्राह्मणों के सिवा दूसरी जाति को नहीं पैठने देता।

इसी विरोधी गुण के कारण प्रेमकुमार प्रायः उससे अपने प्रेम की बातें कहा करते हैं। मतलब, कब उसे पिघलाकर अपने रास्ते बहा ले जायँ। मौसिम बदलने तक प्रेमकुमार की दो-तीन रंगीन प्रेम की घटनाएँ बदल चुकती हैं, तब तक वह बराबर अपना मालकोस गाकर शंकर की शिला में बैजूबावरे के हाथ के मंजीरे छोड़ना चाहते हैं। नैसर्गिक प्रकृति से प्रेमकुमार की मौलिक प्रकृति-चर्चा में शंकर को अधिक रस मिलने लगा, क्योंकि यह और भी शीघ्र बदलनेवाली, और भी आकर्षक, मनुष्य के स्वभाव के और भी निकट है, पर उसकी ओर चलने की शंकर को हिम्मत नहीं होती, क्योंकि धर्म-भीरुता ने उसे वास्तव में भीरु

बना दिया है। जब प्रमकुमार सुनाते हैं—"आज मिस 'सी' ने सिकंदर-बाग़ में बुलाया था। क्या करूँ, किसी का न्योता टाल तो सकता नहीं, जाना पड़ा, भई, जान देती हैं। पूछने लगीं, कहो, तुम हमेशा के लिए हमारे हो? कहना पड़ा। अब ऐसा प्यार ठुकराया तो जाता नहीं। फिर क्या कहूँ कि क्या क्या बातें हुईं। वहाँ से हम लोग कालटन होटल गए; खाया-पिया, मौज से बारह बजे तक रहे।" सुनकर शंकर चलते मूसल से ऊखल की दशा को प्राप्त होता है, तत्काल वासना वशीभूत कर लेती है। पर पिता की बात, जात जाने का भय, हृत्कंप पैदा कर बढ़ने से रोक लेते हैं। जब तक वह अपनी बिगड़ी दशा को राम-नाम जपकर सुधारता है, तब तक बाबू प्रेमकुमार अपनी दूसरी घटना उसके सर पर पटक देते हैं—"कल मिस लीलावती का पत्र मिला था। लखनऊ में उससे खूबसूरत कोई नहीं, यह मैं दावे के साथ कह सकता हूँ। क्या ग़ज़ब की आँखें हैं। देखती क्या है, पार कर जाती है। रात आठ बजे विक्टोरिया पार्क में मिलने के लिये बुलाया था। देखो, यह सब इस चेहरे की करामात है। दुनिया में कामयाबी हासिल करना चाहते हो, तो पहले चेहरा सुधारो। मैं कहता हूँ, तुम जैसे मनहूस, मुहर्रमी सूरत बनाए फिरते हो, तुम्हारी बीबी भी तुम्हें नहीं प्यार कर सकती। यह चेहरा ही प्यार करनेवाला नहीं। हाँ, फिर लीलावती से बड़ी दूर तक मंज़िल तय हुई।" शंकर की नसों का खून फिर तेज़ बह चलता है। बेचारा पलकें दबाकर, रीढ़ सीधी कर सँभालता और दस-पाँच दिन बिगड़े हुए मन को सुधारता है, तब तक एक फिर नई ख़बर आ पहुंचती है। इसी तरह उसने

तीन साल पार किए। पतिव्रता स्त्रियों के तीसरे कोठे से चौथे तक उतरने की कभी उसे हिम्मत नहीं हुई। सिर्फ एक दफ़ा आज़मायश की थी।

प्रेमकुमार धीरे-धीरे प्रेमिका-परिचय में सूक्ष्म से स्थूल होने लगे। पहले केवल अपने व्याख्यान के प्रभाव से खींचने के उद्योग में थे, अब अपने नैसर्गिक सुख के लिये प्रमाण भी पेश करने लगे।

शंकर उनसे सुन चुका था, किस तरह कुमारियों तथा महिलाओं से आँखें मिलाकर बातचीत की जाती है, आवाज़ कहाँ तक शिष्ट और अलफाज़ कैसे-कैसे, कौन-कौन-से ख़ास तौर से प्रयोग में आते हैं। एक रोज़ एकांत में अपने ही क्लास की एक छात्रा से आज़मायश के लिये उतरकर बुरी तरह फ़ेल हुआ। इसके एक संबोधन-मात्र से जो आग उसकी आँख से निकली फिर रस्टिकेटेड होने के डर से इसने किसी मिस की तरफ़ आँख नहीं उठाई।

( २ )

आज एक पत्र लेकर फड़कते हुए प्रेमकुमार शंकर से मिले, और लिफ़ाफ़ा सहित शंकर के पास बिस्तरे पर फेंककर कहा—"देखो, क्या लिखा है!" शंकर उठाकर पढ़ने लगा। अँगरेज़ी पत्र में यों लिखा है—

आज कितने दिनों से कॉलेज जाती हूँ, तो एक बार तुम्हें अवश्य देखती हूँ। नहीं देखती, तो दिल की आग नहीं बुझती। पर तुम, तुम कितने कठोर हो, मेरी तरफ़ भूलकर भी नहीं

देखते ! ईश्वर ने तुम्हें यह रूप मुझे जलाने के लिये दिया था। जो चीज़ अपनी नहीं, मैं उसे चाहती हूँ। तुम हँसोगे। न हँसो, यह मेरे भाग्य होंगे। पर क्या मैं आशा करूँ कि मुझे जलानेवाली आग तुम मुझे दोगे ? ज़रूर दो, ज़रूर दो, प्यारे, मैं कुछ भी तुमसे इस नश्वर संसार में नहीं चाहती, सिर्फ वही आग, वही जलती हुई मुझे जलानेवाली अपने रूप की आग एक बार मुझे दे दो, और देखो, मैं तुम्हारे सामने ही किस तरह जलकर राख हो जाती हूँ। प्यारे, अब यह हाथ जवाब दे रहा है, आँसुओं का तार बंध रहा है, क्या लिखूँ ? क्या एक बार, बस एक बार तुम मेरे प्यासे दृगों को तृप्त करने के लिये कल शाम बनारसी बाग़ में मुझसे मिलोगे ? तुम्हारा हमेशा, हमेशा के लिये दिल से आभार मानूँगी—उफ़ !

५, ह्विवेट रोड
लखनऊ
३–४–४२

तुम्हें न मिल सकनेवाली—
तुम्हारी शांति

पत्र को बड़े ग़ौर से शंकर ने कई बार साद्यंत पढ़कर कहा—"भई, है तो यह किसी सच्चे दिल की पुकार !"

"है न ?" गर्वपूर्वक प्रेमकुमार ने सर उठाकर कहा—"तुमसे मैं कई बार कह चुका कि और कुछ नहीं तो ज़रा अपना चेहरा भले आदमी की तरह सुधार लो, पर तुम पूरे गवार ही रहे।"

"लेकिन कहाँ इसने तुम्हें देखा होगा ? मुझे तो कभी-कभी बड़ा तअज्जुब सा लगता है !"

"कहाँ देखा होगा ! मैं जहाँ-जहाँ जाता हूँ, वहीं-वहीं से कहीं

देखा होगा, फिर कुछ दूर चलकर, खुद ताँगे से उतरकर ताँगे-वाले को पता पूछ आने के लिये कह दिया होगा।"

"अच्छा ऐसा भी होता है?"

"अरे मूर्ख! लखनऊ है। फिर जब दिल की लगती है, तब दिल के ख़ुदा रास्ता भी बंदे को बता देते हैं। मुमकिन, दूसरी तरह पता लगाया हो। किसी गर्ल्स-कॉलेज की लड़की जान पड़ती है। कॉलेज की लड़कियों में मेरी पहचान काफ़ी है।"

"लेकिन हरएक तुम्हीं से स्वयंवरा होती हैं!"

"मुझसे नहीं, देखो इधर देखो, इस रूप से होती हैं, यह शाही शान लखनऊ में दूसरी जगह न पाओगे।"

बाबू प्रेमकुमार की तरफ़ एक बार देखकर शंकर खूब प्रसन्न होकर हँसा। प्रेमकुमार कायस्थ हैं। बाल और चेहरे के रंग में बहुत थोड़ा-सा फ़र्क़ है। तेल, साबुन, पाउडर और सेफ़्टीरेज़र की दैनिक रगड़ से मुँह का तो मैल छूट गया है, पर चमड़े का स्याह रंग वार्निशशुदा बूट की तरह और चमकीला हो गया है। काले रंग पर पाउडर की सफ़ेदी देखनेवालों की आँखों में ग़ज़ब ढाती है।

"तुम हँसते क्यों हो?" नाराज़ होकर प्रेमकुमार ने पूछा।

"इसलिये कि तुम जो कुछ कह रहे हो, इसमें कहीं तिल रखने की भी जगह नहीं। तो क्या जाओगे ही?"

"जाना मेरा फ़र्ज़ है। प्यारवाले कलेजे मोम से भी मुलायम होते हैं, ज़रा-सी आँच नहीं सह सकते, पिघलकर ख़त्म हो जाते हैं। तुम्हें इसका कुछ पता तो है ही नहीं।"

"ठीक कहते हो। मुझे कहीं से ऐसा न्योता आ जाय, तो

पहले तो जाने की हिम्मत न हो, अगर जी कड़ा करके जाऊँ, मिलने के वक्त भगवान् जाने क्या हो। सरस्वती देवी शायद ही जीभ तक पहुँच सकें।"

प्रेमकुमार हँसने लगे। बोले—"**Face is the index of mind** ( चेहरा मन का सूचीपत्र है। ) तुम्हें कहीं से न्योता मिल भी नहीं सकता। तुम जरा यह ब्राह्मणों की पोंगापथी छोड़ो, तो कुछ दिनों में तुम्हें आदमियों से मिलने लायक बना दूँ।"

( ३ )

शाम को बनारसी-बाग़ में, एक तरफ़ ताँगा खड़ा कर, हिरन, गैंडा, चीते, शेर, चिड़ियाँ, शुतुरमुर्ग, कँगारू, बाघ, भालू, भेड़िए, गधा और जेब्रा आदि के घेरे-घेरे, पींजड़े-पींजड़े प्रेमकुमार चक्कर मारते रहे। प्रिया को वह खुद पहचानने वाले नहीं, प्रिया द्वारा पहचाने जानेवाले हैं, इसलिये जो भी हसीन, नवीन साड़ी में लिपटी, लपट-सी उठती, उनकी तरफ़ आती हुई देख पड़ती है, पूरे ताव से दो-एक क़दम उसकी तरफ बढ़ जाते हैं। बस, उसके साथ की सखी या आदमियों की आलोचना पहुँचती है—"कैसा अहमक़ है, अंधा कहीं का।" बस, पैर रुक जाते, आशा दूसरी तरफ़ फेर देती है। पूरे चार घंटे तक बाग़ में चक्कर लगाते रहे। दो-तीन बार ताँगेवाला आ-आकर, पूछ-पूछकर लौट गया। जहाँ कहीं बैठी महिलाएँ बातचीत करती हुई देख पड़ीं, यह देर तक उनके चारो तरफ़ कावे लगाते रहे। धीरे-धीरे बाग़ निर्जन हो गया। यह फिर भी बारहदरी के चारो तरफ टहलते रहे। शांति न मिली। शांति खोकर शिथिल-देह ताँगे पर आकर बैठे, और होस्टल आ चुपचाप लेट रहे।

दूसरे दिन शंकर ने खबर लेने की ग़रज़ से आकर कमरे में प्रेमकुमार को मुरझाए बैठे हुए देखा। यह प्रेमकुमार के प्रेम का खुमार न हो, ऐसा खयाल कर चेहरे की तरफ़ तारीफ़ की निगाह से देखते हुए पूछा—"क्यों भई, कल पहली पहचान-वाली शाम अच्छी तो कटी ?" पूछकर बग़ल में बैठ गया।

"हिन्दोस्तानी सब से पहले इसीलिये बदनाम हैं कि वादे के हज़ार पीछे दो भी पक्के नहीं निकलते। तभी तो गले से गुलामी छूटती नहीं। ऐसी-ऐसी गंदी आदतवाले अगर चाहें कि अपना सुधार सामाजिक या राजनीतिक कर लें, तो क्या खाक़ करेंगे ?" झुँझलाते हुए प्रेमकुमार बोले।

"तो कहो, कल वादा-खिलाफ़ी रही। मैं तो पहले से तुम्हें सचेत कर रहा था कि कहीं किसी ने मज़ाक न किया हो। पर तुम भी ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे सब को युधिष्ठिर का अवतार समझ लेते हो।"

"मेरी आदत है, मैं अपनी तरह दूसरे को भी तहज़ीब-पसंद भला आदमी मान लेता हूँ। और लखनऊ में, खासकर पढ़ी-लिखी लड़कियों में ऐसी बेहूदा भी रह सकतीं हैं, मैं क़यास में नहीं ला सकता।"

पूरी गुस्ताखी की निगाह देखते हुए शंकर ने कहा—"तब तो बड़ा धोका हुआ। सारा मज़ा किरकिरा कर दिया।"

सामने चिट्ठीरसा आता हुआ देख पड़ा। प्रेमकुमार उसी पर दृष्टि जमाए हुए थे। वह भी उन्हीं की तरफ बढ़ रहा था। पास आ एक लिफ़ाफ़ा दिया। खोलकर पढ़कर प्रेमकुमार प्रसन्न हो

गए। कहा—"देखो, हम लोग ग़लती में थे। देखो, कितनी अच्छी, साफ़ दिल की तस्वीर है।"

शंकर चिट्ठी लेकर पढ़ने लगा। लिखा है—

प्राणेश प्रेम,

तुम मेरे लिये कल कितने परेशान थे। जब जानवरों के घेरे-घेरे घूमते हुए अपनी शांति की खोज में व्याकुल हो रहे थे, तब मैं अपनी मा के साथ बैंड-स्टैंड के सामनेवाले मैदान में खड़ी उधर से तुम्हें जाते हुए देखकर हँस रही थी। जी चाहता था, दौड़कर तुम्हारी शांति का पता दे दूँ, और पहले पता बताने का पुरस्कार तुमसे कुबूल करवा लूँ, पर मेरी मा साथ थीं, इसीलिये तुमसे मिल नहीं सकती थी। पर क्या तुम इतना सोच ले सकोगे कि मैं कितनी बार, कितनी तरह, आँखों से, दिल से, गले से, और प्यार से तुमसे मिल चुकी हूं ? मैं वही हूँ जिसे देखकर तुम चौंके थे, मेरी मौन पुकार सुनकर, मुझे देखकर तुम चौंके थे, मेरी मौन पुकार सुनकर, मुझे देखकर खड़े हो गए थे, फिर उदास होकर चले गए थे। तुम समझो कि अपनी चाहनेवाली के दिल में कितनी आग तुम फूँक गए हो। वह अपने प्यारे के असली प्रेम की परीक्षा कर न मिल सकने के कारण कितना तड़प रही है ! आह ! तुम्हें इतना कष्ट अपनी शांति के लिये स्वीकार करना पड़ा ! पर शांति तुम्हें मिलेगी। वह तुम्हारे ही पास रहती है। तुमसे जुदा हो जाय, तो उसकी हस्ती मिट जाय। तुम्हें अवश्य-अवश्य तुम्हारी शांति मिलेगी। कल एलफ़िंस्टन-सिनेमा जरूर-जरूर आने की कृपा करना।

हिवेट रोड, लखनऊ
४-४-३२

तुम्हारी
शांति

मुस्किराकर शंकर ने कहा—"यार, इनके पत्र में तो पूरी कविता रहती है।"

"हाँ, काफी पढ़ी-लिखी जान पड़ती हैं, अँगरेजी बड़े काट की लिखती है।" आत्मगौरव को छिपाने का प्रयत्न करते हुए प्रेमकुमार ने कहा—"जब मा साथ हों, तब कैसे कोई खुले दिल से बातचीत करे?"

"ऊँचे किसी ख़ानदान की जान पड़ती हैं!" शंकर ने बढ़ाकर कहा।

"जरूर यह काट-छाँट किसी फटीचर घर की लड़की की हो ही नहीं सकती। ख़ानदानी घर की लड़की की मिसाल दूब से दी जाती है, जो बारह साल धूप में झुलसती रहने पर भी दिल से गीली रहती है, इसलिये जान से बची रहती है। किसी ने ज़रा-सा पानी डाला या आसमान से चार बूँदें पड़ीं कि चौगुनी हरियाली से लहरा लहराकर पानी डालनेवाले की तारीफ़ करती रहती है। इस तरह उसकी आँख ठंडी कर फ़ौरन् बदला चुका देती है।"

"बहुत दुरुस्त कहते हो। क्या सिनेमा जाने का विचार है?" आग्रह ज़ाहिर करते हुए शंकर ने पूछा।

"न जाने की क्या बात हुई? अगर न्योता और वह भी भले घर का, किसी को मिले, और वह न जाय, तो उससे बड़ी मेरे ख़याल से दुनिया में दूसरी बेहूदगी है ही नहीं।" आइने को सामने मेज़ पर रखकर सेफ़्टीरेज़र में नया ब्लेड लगाते हुए प्रेमकुमार ने कहा।

"चाहिए ज़रूर जाना। तबियत मेरी भी होती है कि जब

तुम मिल लो, तब एक बार उनके दर्शन करूँ। अँगरेज़ी में कविता ज़रूर लिखती होंगी।"

"हाँ, दिल एक सच्चे शायर का है। हर सेंटेंस चोट करता है, है न?"

"करारी चोट तुम पर है, तड़प मुझे हो चली है!"

"कोई लफ़्ज निकाल दो, तो सारा मज़मून लँगड़ा।" दाढ़ी में साबुन लगाते हुए प्रेमकुमार ने कहा—मैं मिल लूँ, फिर वादा करता हूँ, तुम्हें ज़रूर मिला दूँगा। इसी तरह धीरे-धीरे भले आदमी बन जाओ। अब ज़माना ब्राह्मणोंवाले खयालात से बहुत दूर बढ़ गया है। तुम बाक़ायदा पढ़े-लिखे आदमी हो, कुछ अपनी तरफ़ से भी समझो। और, मैं तो पहले मिलने-जुलने की आज़ादी मानता हूँ, फिर और।"

( ४ )

छ का समय है। एलफ़िंस्टन-पिक्चर पैलेस के सामने लोगों की भीड़ है। 'शैलबाला'–फ़िल्म ज़ोरों से चल रही है। चवन्नी अठन्नीवाले झरोखे में लखनऊ के पानवाले, हिंदू-मुसलमानों के आवारागर्द नौजवान लड़के और ग़रीब बाशिंदे एक दूसरे पर चढ़े हुए टिकट के लिये बढ़ते जा रहे हैं। कई प्राइवेट मोटरें आकर लगी हैं। प्रेमकुमार बड़ी देर तक इधर-उधर टहलते रहे। कुछ देर तक तस्वीरें आजवाली और आगे होनेवाली फ़िल्मों की सुलोचना, ज़ुबेदा, माधुरी, कज्जन, मुश्तरी, शीला, कपूर और मुख्तार बेगम आदि की देखते रहे, यद्यपि इन सब के चित्र उनके कमरे में बड़ी हिफ़ाज़त से रक्खे हैं, और ज़ुबेदा की एक तस्वीर

बड़े खर्च से, सुनहले बार्डर में, आईने की तरह टेकदार, बँधवा कर मेज पर रख दी है। वहाँ तस्वीरों के पास रहने का ख़ास मतलब यह है कि शांति आवेगी, तो जाने के समय मुलाकात हो जायगी, और मालूम भी हो जायगा कि वह किस दर्जे में गई। अभी से टिकट खरीद कर कहीं जाकर बैठना बेवक़ूफी होगी। कहीं उस दर्जे में शांति न मिली, न गई, तो? कोई भी प्रवीण नवीन पत्नी का हाथ पकड़े उधर से गुजरता है, तो प्रेमकुमार उन्हें शांति और उसका बाप समझ कर प्रेम से सिहर उठते हैं, फिर तरुणी की जलती दृष्टि से मौन लांछन पा रह जाते दूसरे बार की प्रतीक्षा करते हैं।

समय केवल दो मिनट खेल शुरू होने को रह गया, तब बहुत घबराए। निश्चय हुआ कि शांति उनके आने से पहले भीतर चली गई, और अतृप्त आँखों से उनकी राह देखती होगी। बड़े बेचैन हुए। कहाँ, वह बैठी उनके नाम की माला जप रही है, कैसे मालूम करें। अंत में, बाहर रहने से भीतर रहना अच्छा। इस विचार से अपना लाइब्रेरीवाला कार्ड दिखाकर ऊपर का टिकट कंसेशन से ले लिया। जाते जाते बत्ती भी बुझ गई, खेल शुरू हो गया। इच्छा थी, ऊपर और जहाँ तक नजर जायगी, शांति को उजाले में खोजेंगे। दिल बैठ गया।

खेल शुरू हो गया। प्रेमकुमार की घबड़ाहट बढ़ चली। लोग एकाग्र होकर तमाशा देख रहे हैं। प्रेमकुमार चित्त की अपलक आँखों से शून्य शांति का ध्यान कर रहे हैं, उसकी बातें सोच रहे हैं—"उसने लिखा है, मैंने तुम्हें देखा है, तुमने भी देखा है। सबसे ज्यादा मैं किसकी तरफ़ खिंचा था! क्या वही है—वह

गोरी-गोरी लड़की ! पर उधर से तो शायद किसी बेहूदे की दी गाली की आवाज़ आई थी, किसी कमबख्त ने यों ही छेड़ दिया होगा।"

खेल को एक घंटा हो गया। पर प्रेमकुमार को मालूम नहीं कि क्या-क्या हो गया। केवल शांति के ध्यान में तन्मय हैं।

घंटी बजी। हाफ़ टाइम हुआ। बत्तियाँ जल गईं। प्रकाश में ऊपर-नीचे, कई जगह, सुंदरी-से-सुंदरी युवतियों को बैठे हुए देखा। पर ऐसी हालत में कहाँ जायँ ? किसे शांति समझें ? जो सबसे खूबसूरत है। ग़ौर से देखने लगे। जिससे निगाह लिपट जाती, प्रकाश में उज्ज्वल आँखें, कोट, कट, चिबुक, मुख उसीके अपूर्व सुंदर लगते हैं। कैसी विपत्ति है ! इतनी युवतियों में कौन सबसे सुंदरी है। निर्णय करने में मन सक्षम नहीं। जितनी हैं, उतने रूप के मुख हैं—गोल, लंबे, चकले, सम, सभी सुंदर हैं, सभी निर्दोष। इनमें शांति कौन हो सकती है ?

मेहनत करते-करते मन थक गया। रूपों को देखते रहने के लिये वह राज़ी है, पर शांति के निर्णय के लिये पूर्ण श्रांत। उसने युक्ति दी—"इन्हीं में शांति होगी। हर स्त्री अपने ही रूप को सबसे सुंदर समझती है। यदि वह वास्तव में रूपवती है भी; इसलिये खेल समाप्त होने पर रास्ते पर हर एक को देख लेना।"

खेल समाप्त हुआ। रास्ते पर आ प्रेमकुमार ठाट से टहलने लगे। उन्हें शांति न मिली। जितनी शांतियाँ अपने पति को हाथ से पकड़े हँसती हुई शैलबाला की आलोचना में मुखर उधर से निकलीं, सभी बाबू प्रेमकुमार को जला-जलाकर चली गईं।

हताश होकर भी आशा के क्षीण-क्षणिक आश्वासन से हृदय

को बाँधकर प्रेमकुमार एक ताँगे पर आ बैठे, और बादशाह-बाग़ चलने के लिये कहा।

प्राणों की प्रेयसी प्रतिमा को पुनः पुनः दैत्यों के वीर भाव से अणुओं में पूर्ण करने लगे, और वह उन्हीं के प्राणों से शक्ति ग्रहण कर-कर परमाणुओं से सुंदर रूप-बंध में गठित हो-हो—आज की उन्हीं रूपसियों के चेहरे-चेहरे से, जिन्हें वे अच्छी तरह कुछ देर पहले देख चुके हैं, जो कुछ देर पहले उन्हें आँखों की दृष्टि में लांछित कर चुकी हैं—माया-मरीचिका में आँखों की दृष्टि हर-हर, शांति के रूप में उठ-उठ लुभाने लगीं।

निरुपाय प्रेमकुमार होस्टल आ, किराया चुकाकर, चुपचाप अपने कमरे में चले गए। शंकर पढ़ रहा था, पर अभी चलकर बातचीत करना उसने ठीक न समझा।

( ५ )

सुबह भी शंकर समय बरबाद होने के विचार से प्रेमकुमार से नहीं मिला। उधर प्रेमकुमार भी चिंताजनक मानसिक स्थिति के कारण सुबह शंकर से आकर नहीं मिल सके।

कॉलेज से लौटकर बाहर से शंकर ने आहट ली। प्रेमकुमार प्रसन्न थे। एक ग़ज़ल मन-ही-मन गुनगुना रहे थे। इस ग़ज़ल को कैनिंग कालेज के विद्यार्थी लखनऊ का नैशनल साँग ( जातीय गीत ) कहते हैं। ग़ज़ल है—

"अगर क़िस्मत से लैला के गले का हार हो जाता,
ज़माने भर की नज़रों में खटकता, ख़ार हो जाता।"

आदि आदि।

शंकर को मालूम हो गया कि या तो कल इनकी क़िस्मत

दरअसल लड़ गई, या आज अब फिर चिट्ठी में कल कहीं मिलने की आज्ञा पहुँची है। मुस्किराता हुआ भीतर गया, और बड़ी उत्सुकता से पूछा—"क्यों भई, कल मुलाक़ात तो हो गई ?"

"किसी ने ठीक कहा है।" प्रेमकुमार बोले—"जो मज़ा इंतज़ार में पाया, वह वस्ल में न पाया।"

"तो क्या अभी इंतज़ार ही चल रहा है ?" कुछ तअज्जुब से शंकर ने पूछा।

"बात यह हुई कि कल मैं पहले शो में गया, वह दूसरे में आईं। इसीलिये मुलाक़ात न हो सकी। बड़ा ताना देकर चिट्ठी लिखी है। देखो।"

प्रेमकुमार ने चिट्ठी बढ़ा दी, शंकर पढ़ने लगा। लिखा है—
प्यारे प्रेम,

कल दूसरे शो में गई, पर तुम नहीं थे। यह कैसी बात ! क्या तुम मुझसे नाराज़ हो गए ? मुझे क्षमा करना। तुम्हीं सोचो, मेरा क्या क़सूर था ? अगर तुम पहले शो में आए, तो ग़लती की। भला, पहले शो में भी कहीं दिल मिलानेवाले मिल सकते हैं ? जब तक सिनेमा होता हम लोग गोमती के किनारे बातचीत करते; फिर सिनेमा ख़त्म होने पर मैं घर चली जाती। पहले शो में यह मौक़ा शहर की भीड़ में कहाँ मिलता ? अगर पहले शो में तुम गए, तो ज़रूर चुड़ैलों को देखकर मेरा अंदाज़ा लगाया होगा, इस तरह तुमने मेरा कितना अपमान किया ! अब कल का वादा पूरा होना ही चाहिए। कल गोमती के किनारे, छोटेलाल के पुल पर छत्री में रहना। मैं नहाने जाऊँगी। तब तुम मुझे दिन को देखकर फिर रात को न भूल सकोगे। फिर

देवी

हम लोग किसी दिन कहीं मिल जायँगे। कल ज़रूर-ज़रूर तुम्हें तुम्हारी शांति मिलेगी। ठीक आठ बजे दिन को मैं जनाने घाट पर हूँगी।

५, हिवेट रोड, लखनऊ
५—४—३२
रात एक

तुम्हारी कब से खोई हुई
शांति

पढ़कर शंकर की तबियत फड़क उठी। कहा—"अब क्या, अब तो कल ज़रूर क़िस्मत खुल जायगी।"

"एक-न-एक ऐसा अड़ंगा लग जाता है कि बना बनाया काम बिगड़ जाता है।" सहज प्रसन्न स्वर से प्रेमकुमार बोले—

"पहले की अड़चन अच्छी होती है। पीछे की सफलता तब बड़ी स्वाददार जान पड़ती है। प्रेम के लिये तो यह ख़ास बात होगी। मुझे कल्पना से इसका ठोस आनंद कुछ-कुछ मिल रहा है।" शंकर ने चिट्ठी की तरफ़ देखकर कहा।

"कल्पना नहीं, ख़रबूजे-सा अपना भी हाल समझो। रोज साथ किसका होता है? यह उसी का रंग चढ़ रहा है, जो तजवीज़ इतनी चोखी उतर रही है।" प्रेमकुमार ने आत्मप्रसाद के उदात्त भावों से कहा।

"पके खरबूजे को स्यारों से बड़ा डर है।"

( ६ )

दूसरे दिन पाँच बजे प्रातः नहाकर, पूरा शृंगार कर प्रेम-कुमार छड़ी लेकर छोटेलाल के पुल की ओर, ठीक छ बजे, चल दिए। आठ बजे तक घाट की ओर टहलते, छत्री पर उठते-बैठते

रहे। आठ बज गए, नौ बज गए, दस बज गए, किसीने भी उनसे आकर न कहा, प्यारे तुम इतने परेशान हो मेरे लिये। मैं ही तुम्हारी शांति हूँ। बल्कि एक अज्ञात मनुष्य ने पूरी उद्दंडता से पेश आकर कहा—"आप बड़ी देर से यहाँ टहल रहे हैं, और मैं देखता हूँ, जो भी औरत आती है, आप बुरी तरह घूरते हैं, क्या आपको इस तरह नज़र लड़ाते वक्त अपनी मा-बहनों की बिलकुल याद नहीं आती ?"

पाप बड़ा डरपोक होता है। कुछ जवाब दें, प्रेमकुमार को ऐसी हिम्मत न हुई। चेहरा उतर गया। चुपचाप सीढ़ियों से चढ़कर बादशाह बाग़ की राह ली। होस्टल में जाकर लेट रहे। उस रोज़ खाना न खाया।

वक्त पर चिट्ठीरसा फिर चिट्ठी लेकर पहुँचा। प्रेमकुमार मन-ही-मन शांति को शास्ति देने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर रहे थे, उसी समय उसने एक चिट्ठी उन्हें दी। लेकर पढ़ने लगे। लिखा है—

मूर्खाधिराज,

तुम्हें गोमती में भी चूल्लू भर पानी नहीं मिला ?

५, ह्विवेट रोड<br>
लखनऊ

तुम्हारी<br>
शांति

पढ़कर प्रेमकुमार के छक्के छूट गए। कुछ देर बाद शंकर भी आया। पत्र वैसा ही खुला मेज़ पर पड़ा था, पढ़ लिया। फिर हँसी को पीकर बोला—"यार, यह तो अच्छा मज़ाक किसी ने किया। अब ५ ह्विवेट रोड पर चलकर देखो तो कौन रहता है।

ह्विवेट रोड पर इन्हीं को नई ब्याह कर आई हुई साली

देवी

अपने अकेले पति के साथ रहती है, जो इन्हीं के कालेज में पहले इन्हीं के साथ रहकर अब रिसर्च-स्कालर है। इन्हें देखकर क्षमा हँसने लगी। कहा—"आप बड़े बेवकूफ हैं। शांति तो दीदी का ही राशि का नाम है।"

---

# जान की !

जिस रोज मिस मेयो कालिज-स्ट्रीट, कलकत्ता की सेकेंड-हैंड किताबों की दूकानों में अनुवादित रूसी पुस्तकों की खपत देख रही थीं, उस रोज़ उनकी आँख पर चढ़ने वाला पहला आदमी मैं था। इतने से निश्चय बँध जायगा कि मैं इस साहित्य का प्राचीन सहोदर हूँ। जब मैंने इस ज़मीन पर काम शुरू किया, यहाँ अकेले बाबू सम्पूर्णानन्द जी थे, जो समझ सकते थे, पर चूँकि मेरी कृति पर साहित्य का नकाब पड़ा रहता था, इसलिए उन्होंने इसे छुआ भी नहीं। अभी उस रोज़ फैसला हुआ कि मैं उनका समसामयिक हूँ। इधर, नौजवानों के साथ रहने के कारण, एक कदम और आगे बढ़ गया हूँ, यानी कम्यूनिस्ट हूँ। कांग्रेस-सोशलिस्ट के नाम से हमें झेंप आती है। इस बार की बैठक से हमारे वृन्द का निश्चय हो गया है कि यह लड़ाई जनता की लड़ाई है और फासिज्म के विरुद्ध विजय पाना हमारे और विश्व के कल्याण के लिए जरूरी है। हमें हर हालत में रूस का साथ देना है। भारत-सरकार हमसे सहमत है, हमारे ख़िलाफ़ जब तक हम इस उसूल पर हैं, उसकी कोई कारवाई न होगी।

बम्बई हमारे प्रचार का प्रधान केन्द्र है। हमारे कई अखबार भी निकलने लगे हैं। हिन्दुस्तान में हमने केन्द्र बनाये हैं। हर केन्द्र में हमारा एक आदमी रहेगा और उसकी परिधि में आने वाले नगर और गाँवों में कम्यूनिज्म के सिद्धान्तों का प्रचार करेगा। मुझे दक्षिण युक्तप्रान्त के कुछ जिले मिले हैं।

इस समय मैं कर्वी में हूँ। चित्रकूट के पास, शङ्कर के यहाँ। पहुँचे अभी चौबीस घंटे नहीं हुए। गरमियों के दिन, सुबह के सात का समय। दो मंजिला मकान। मैं पच्छिमवाले बरामदे में चटाई पर बैठा हूँ। यह मकान शङ्कर का निजी मकान नहीं, किराये का है; वह पास की मिल में साधारण अच्छी तनख्वाह पर फिटर का काम करता है। इसी जिले का रहनेवाला है। इस समय बाहर निकला हुआ है। उसकी आठ-नौ साल की बड़ी लड़की बैठी स्नेह से उमड़ती हुई कितनी प्रासङ्गिक-अप्रासङ्गिक बातें छेड़ रही है। कुछ में उसकी माँ का इशारा जान पड़ता है। मैं दूसरी तरफ की फुलवाड़ी के रङ्ग बिरङ्गे फूल और हरियाली का फ़र्श देखता हुआ उत्तर दे रहा हूँ। चाय का गर्म होता पानी सनसना रहा है।

शंकर मेरा लँगोटिया यार है। एक ही जगह हम पैदा हुए, रहे। हमारी बीबियाँ शादी के बाद ससुराल के नाम से एक ही जगह आईं और रहीं। जैसी मेरी और शंकर की दोस्ती है, मुमकिन, वैसी ही इन दोनों की रही हो। अब वह परदेशवाला सहवास नहीं रहा। पर मैं और शंकर काफी मिलते जुलते रहे। परदेश छोड़ने से पहले, तार के द्वारा मेरे साथ शङ्कर को भी मालूम हुआ था कि मेरी स्त्री का देहान्त हो गया है। बात यह है

कि शङ्कर की बीबी के लिए मेरे सम्बन्ध में कुछ भी अज्ञात नहीं। मैं जहाँ तक हूँ, वह उसे और बढ़कर समझ सकती है।

शङ्कर चाय नहीं पीता, इसलिए उसकी बीबी को चाय बनाना नहीं आता। पिछली शाम को साबित हो चुका है। मैंने कह दिया है, पानी गर्म हो जाने पर, बटलोई, पत्ती, दूध, शकर मेरे सामने रख दें—पीने का गिलास भी, मैं चाय बना लूँगा।

चाय का हिन्दुस्तानी सेट मेरे सामने रख दिया गया। लड़की को पिलाने के इरादे से एक गिलास मैंने और माँगा और अपने लिये छानकर चाय डालने लगा।

इसी समय जीने पर किसी के चढ़ने की आहट मिली, मन्द-मन्द पदक्षेप। क्षण भर बाद वह मूर्ति बरामदे से होती हुई उस कमरे की ओर चली जो रसोई से लगा था। मुझे जान पड़ा, एक युग बदल गया। ऐसी शान्त दृष्टि और मन्दगति मैंने नहीं देखी, जैसे इस स्त्री की विश्व की समस्त प्रकृति पर विजय हो, जैसे यह सब कुछ जानती है और बिना कहे बहुत कुछ कह रहा है, और रूप ?—मेरे रोएँ खड़े हो गये, उसी वक्त मेरे मन में आया, यह मेरे मन की मूर्ति है, कभी मेरे मन से बाहर नहीं निकली! सँभलकर भी मैं न सँभल सका।

वह स्त्री शङ्कर की स्त्री से दो मिनट बातचीत करके उसकी लड़की की पढ़नेवाली किताब हाथ में लिये बाहर निकली और वैसी ही शान्त चितवन से देखकर कहा—"माया, चलो।"

माया उठकर चुपचाप चल दी। वह जीने से उतरने को हुई, मैं उस स्त्री को देखता रहा। उसने भूलकर भी मुझे नहीं देखा फिर भी जैसे मेरा सब कुछ देख लिया हो। मुझे ऐसा जान

पड़ा, जैसे मेरा कुछ स्वत्व इसने खींच लिया। अब यह जवान नहीं, अधेड़ है; आधे बाल पक चुके हैं; चेहरे पर कुछ झुर्रियाँ भी पड़ रही हैं; पर कितनी दृढ़ता? उसमें ऐसी दृढ़ता नहीं थी सिर्फ चेहरा मिलता है। बीस साल हो गये। तब इसकी मुश्किल से बीस साल की उम्र थी। लेकिन, वह मर चुकी है, और यह जिन्दा है।

मुझसे रहा नहीं गया। मैंने शङ्कर की स्त्री को बुलाया। वह मुस्कराती हुई सामने आकर खड़ी हो गई। समझ गई कि इन्हें जंग लग गया।

मैंने पूछा, "तुम इसे पहचानती हो?"

"हाँ।"

"यह कौन है?"

"यहाँ की मिस्ट्रेस।"

"इतना तो मेरी समझ में आ गया।"

"एक महिला के सम्बन्ध में अधिक जानकारी से आपको फ़ायदा?"

"तुमने उसे तो देखा है?"

"हाँ, लेकिन, वह मर चुकी हैं और यह जिन्दा है। क्या अब भी आप समझते हैं यह आपके किसी निजी परिचय की हो सकती है?"

इसी समय शङ्कर आया। उसे देखते ही उद्वेल होकर मैंने पूछा, "क्यों भई, यह माया को जो मिस्ट्रेस पढ़ाती है, उन्हें जानते हो?"

शङ्कर ने मुँह बिगाड़ा—"पक्की छिनाल है। कानपुर के किसी गाँव की रहनेवाली है। कहते हैं पति बदमाश था, उसे सज़ा हो गई; यह इधर उधर फिरने लगी किसी तरह यहाँ आई पैर जम गये। जानते तो हो इन लोगों को।"*

---

* सन् १९४१